

OCTOBER, 1999



ISHWAR ASHRAM TRUST

ISHBER (NISHAT), SRINAGAR, KASHMIR

NIRĀVAṆA JAYANTĪ SPECIAL NUMBER



मालिनी
THE MALINI

Abhinavagupta about Mālinī

यन्मयतयेदमखिलं, परमोपादेयभावमभ्येति।
भवभेदास्त्रं शास्त्रं, जयति श्रीमालिनी देवी॥

*Śrī Mālinī Devī is ever victorious. In union
with her all the treatises of non-dualistic
order achieve the nature of divine potency.*

T.A.A. XXXVII

ISHWAR ASHRAM TRUST
ISHBER (NISHAT), SRINAGAR, KASHMIR

Board of Trustees :

Sri Inderkrishan Raina
(Secretary/Trustee)
Sri Samvit Prakash Dhar
Sri Brijnath Kaul
Sri Mohankrishan Wattal

Editorial Board :

Sushri Prabhadevi
Prof. Nilakanth Gurtoo
Prof. Makhanlal Kukiloo
Sri Somnath Saproo

Sri Brijmohan
(I.A.S. Retd.) Co-ordination

Publishers.:

Ishwar Ashram Trust
Ishber (Nishat), Srinagar
Kashmir.

Administrative Office :

Ishwar Ashram Bhawan
2-Mohinder Nagar
Canal Road
Jammu Tawi - 180 016.
Tel. : 553179, 555755

Branch Office :

F-115, Sarita Vihar, New Delhi - 110 044
Tel. : 6943307

October, 1999
Price : Rs. 20.00

© Ishwar Ashram Trust

Produced on behalf of Ishwar Ashram Trust
by Paramount Printographics, Daryaganj, New Delhi-2. Tel 328-1568, 327-1568

ॐ नमः परमसंविद् चिद्वपुषे

विषय सूची : Contents

सम्पादक की लेखनी से		4
1. Śiva Sūtras	<i>Svāmī Lakṣmaṇa Joo</i> <i>Mahārāja</i>	6
2. Seven States of a Yogi	<i>Svāmī Lakṣmaṇa Joo</i> <i>Mahārāja</i>	12
3. Contents of Pratyabhijñā (A bird's eye view)	<i>Late Dr. R. K. Kaw</i>	21
4. Think it Over	<i>Gems from Nahusha Gita</i>	27
5. Hymns on Worship of Supreme Self.	<i>By Ādiguru</i> <i>Translated by Dr. Neelimā</i>	29
6. Divine Thoughts		33
7. विज्ञान-भैरव समीक्षात्मक अध्ययन	शैवाचार्य ईश्वरस्वरूप स्वामी लक्ष्मणजू महाराज	35
8. तंत्रालोक में अज्ञान का स्वरूप	डा० निधि टण्डन	40
9. शैवदर्शन के वातायन से	प्रो० नीलकण्ठ गुर्दू	48
10. शैवाचार्य श्री नागार्जुन रचित चित् संतोष त्रिंशिका	वी, एन, जोत्शी (भट्ट)	50
11. Letter from Moscow		55

संपादक की लेखनी से

प्रातः स्मरणीय आदरणीय सद्गुरु महाराज ईश्वर स्वरूप स्वामी लक्ष्मण जू महाराज की आठवीं निर्वाण जयन्ती के विशेष पर्व पर मालिनी का यह विशेषांक सहृदय पाठकों, साधकों व भक्तों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमारा मन फूले नहीं समाता है।

निर्वाण जयन्ती का आज का यह पुण्य पर्व हमें इस सत्य का मन्थन करने के लिए प्रेरित करता है कि विगत आठ वर्षों की इस लम्बी अवधि में क्या कुछ परमार्थमार्ग में हमने पाया और क्या कुछ हमने खोया। क्या आत्मा पर पड़ी अशुद्धियों की धूल पूर्णतः समाप्त हुई और शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति से निर्मल सत् चित् स्वरूप आभासित होने लगा ? क्या हम व्यर्थ के तर्क-कुतर्क में समय व शक्ति को नष्ट कर अपनी आत्मिक शक्तियों को अच्छी तरह से पहिचानने में कोसों दूर रहे ? क्या इस अवधि में, सद्गुरु महाराज की करुणा व कृपा से हम अपनी जीवनगीता में एक ऐसा नया अध्याय जोड़ने में समर्थ हुए जिससे श्रेष्ठता और अद्वितीयता की उपलब्धि सहज हो सकती ? क्या हम अपने हृदय में गुरु का बिम्ब अंकित कर ब्रह्ममय बनने में सशक्त बन चुके ? सद्गुरु चरणों को सदा प्रेमाश्रु से पखारकर अपने अन्तस् की मलिनता को धोने में हम कहां तक सफल हुए ? क्योंकि सद्गुरु चरणों के प्रति प्रेम का जागरण ही साधक को मनुष्यता से ऊपर उठाकर देवता बना देता है। इसी के बल से मानव वह करके दिखाता है जो मानवीय शक्तियों और सामर्थ्य से भी परे है। सद्गुरु चरणों का प्रेम कभी तट बन्धों में नहीं बंटता क्योंकि इसमें सारे विश्व को बांध लेने की शक्ति है। भूमि से आकाश तक इसी का प्रकाश है। इसकी रश्मियां एक ऐसे वातावरण को जन्म देती हैं, जिसमें शीतलता तन व मन को सुगन्धित करती रहती है। इसकी मधुर थाप हृदय को विभोर कर देती है। इसकी बौछार पूरे अन्तस् को भिगोती है। सद्गुरु चरणों के प्रेम में जो आनन्द है वह अन्यत्र कहीं नहीं। इसकी कोई तुलना नहीं, इसकी कोई उपमा नहीं। सद्गुरु महाराज का आज का यह पुण्यफलदायक दिवस ऐसी विद्या, ऐसा ज्ञान, ऐसा चिन्तन, ऐसा विचार, ऐसी सिद्धि प्राप्त कराने में सहायक हो जो अपने आप में अद्वितीय हो, चमत्कारिक हो और भोगमोक्षप्रद हो। तथास्तु।

यह बात उल्लेखनीय है कि सद्गुरु महाराज की निर्वाण जयन्ती धूमधाम से श्रीनगर-जम्मू-दिल्ली में एक साथ मनाई गई। हजारों श्रद्धालुओं, भक्तों व शिष्यों ने इस निर्वाण जयन्ती महोत्सव के महायज्ञ में सम्मिलित होकर अपने को कृत कृत्य माना। तीनों केन्द्रों

पर भव्य यज्ञों का आयोजन कराके ईश्वर आश्रम ट्रस्ट के अधिकारी प्रशंसा के पात्र हैं और सद्गुरु महाराज के प्रति अटूट श्रद्धा के भागीदार हैं।

आप भक्त महानुभाव यह पढ़कर प्रसन्न होंगे कि स्थानीय कठिनाइयों के होते हुए भी, कई गुरु-प्रेमियों ने, श्रीनगर-स्थित प्रधानआश्रमधाम में नव विशाल रसोईघर का अतिथि-आगार सहित निर्माण कार्य, कुशलता से सम्पन्न किया। इसके अतिरिक्त आश्रम-द्वार से लेकर नव रसोई घर तक का सारा अनगढ़ मार्ग आधुनिक रीति से गढ़कर दुर्घट कार्य को साकार करके सद्गुरु भक्त व सच्छिष्य श्री विजय कुमार कौल ने एतदर्थ मुक्तहस्त आर्थिक अनुदान देकर, अपनी उदारता दिखायी, वे सत्यमेव श्लाघनीय हैं। सद्गुरु महाराज उनकी कामना पूर्ण करें और उन्हें यथार्थ सुख से लाभान्वित करें। हमें आशा है कि आगे भी वे इसी प्रकार से आर्थिक सहायता समय-समय पर करके सद्गुरु-कृपा के पात्र बनेंगे।

आप सब गुरुभक्तों को यह विदित ही है कि दक्षिणदिल्ली स्थित 'सरिता विहार' में जो भूमिखण्ड हमें डी. डी. ए. के सौजन्य से हाल ही में मिला, उस पर आश्रमभवन का निर्माणकार्य शीघ्र ही आरम्भ होने वाला है। इस निर्माण कार्य में आर्थिक अनुदान देने के इच्छुक भक्तजनों से सविनय निवेदन है कि वे ईश्वरआश्रम के श्रीनगर, जम्मू, दिल्ली स्थित केन्द्रों के किसी भी केन्द्राधिकारी को अपना आर्थिक अनुदान देकर अपना जीवन सफल बना सकते हैं।

सद्गुरु निर्वाण जयन्ती के शुभाशीष के साथ-साथ समस्त ईश्वर आश्रम परिवार को दीपावली की मंगलमय कामना।

प्रो० मखनलाल कुकिलू

मंगलवार

२८ सितम्बर १९९९

आश्विन कृष्ण चतुर्थी

सद्गुरु निर्वाण जयन्ती दिवस



ŚIVA SŪTRAS

with Vimarśinī Sanskrit Commentary of Śrī Kṣemarāja

Īśvara Svārūpa Svāmī Lakṣmaṇa Joo Mahārāj

(continued from last issue)

Thus such type of a yogi, does not possess gross desire in mind like that of a common man, but his will is like supreme energy of Lord Śiva, every where unhindered. The same idea has been expressed in this verse of Svachchanda Tantra, where it is said that divine energy is possessed by all the goddesses, who are nominated in various ways. She remains concealed by yoga māyā, she is a virgin, and desired by everybody. In 'Netra tantra' also Lord addressed to Pārvatī that O Pārvatī ! that highest energy is one with my own will, inseparable, as natural and is known one, as heat is one with fire and as rays are one with sun. That energy is the cause of the whole world. The same idea has been expressed in another way in the following verse of Spandakārikā :-

This man of the world does not engage the senses in directing towards their objects, but by contact with the power residing in the self, he can be similar to that self.

ईदृशस्य महेच्छस्य :-

दृश्यं शरीरम्॥ १४॥

Dṛśyam śarīram

For such a yogi, who has developed such a power of will even his own body becomes an extrenuous object or the totality of extrenuous objects (constitutes) his own universal body, or translated in another way, this whole perceived objective world is his own self. He perceives his own body just like an outside object, not in subjective way.

यत् यत् दृश्यं बाह्यं आभ्यन्तरं वा, तत् तत् सर्वं “अहमिदम्” इति सदाशिववत् महा समापत्त्या स्वाङ्गकल्पं अस्य स्फुरति न भेदेन।

यत् यत् दृश्यं— whatever perceived objective world exists, बाह्यं—externally, आभ्यन्तरं वा— or internally, तत् तत् सर्वं— that all is his own self, “अहमिदम्”

श्री ईश्वरस्वरूप लक्ष्मण जू महाराज



आविर्भावदिवस

9-5-1907

महासमाधिदिवस

27-9-1991

इति- I am this whole universe. He must perceive this collectively not individually, सदा-शिव वत्- just like Sadāśiva does, महासमाप्त्या- this great achievement of Supreme consciousness, स्वाङ्गकल्पं अस्य स्फुरति- in the same way he feels the whole universe like his own body, न भेदेन- not in differentiated way.

Whatever perceived objective world exists externally or internally that all appears to this yogi as his own self not in differentiated way. Because of this great achievement of supreme I consciousness he feels "I am this" whole universe, just as the feeling of Sadā śiva with regard to this universe is. "I am this".

शरीरं च देह धी प्राण शून्य रूपं नीलादिवत् दृश्यं, न तु पशु-वत् दृष्टतया भाति। एवं देहे बाह्ये च सर्वत्र अस्य मयूराण्डरसवत् अविभक्तैव प्रतिपत्तिर्भवति। यथोक्तं श्री विज्ञान-भैरवे :-

जलस्येवोर्मयो वह्नेर्ज्वालाभङ्गयः प्रभा रवेः।
ममैव भैरवस्यैता विश्वभङ्गयो विनिर्गताः ॥ इति॥

तत् च-
तस्मात् शब्दार्थ चिन्तासु न सावस्था न या शिवः।
भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः॥
इत्यनेन संगृहीतम्॥ १४ ॥

शरीरं च-the body (to the yogi), देह धी प्राण शून्य रूपं-देह-the physical body or (gross body of wakefulness), धी-or in the form of dhī or the mind (gross body of dreaming state), प्राण-or Prāṇa (as in sound sleep), शून्य रूपं-or mere void (as in voidness state), नीलादिवत् दृश्यं-as an objective perceptible phenomenon like blue etc, न तु दृष्टतया-and not like a perceiver, पशुवत्-as in the case of ignorant beings, भाति-appears.

To such a yogi the body appears as an objective perceptible phenomenon like blue etc. and not like a perceiver as is the case of ignorant beings whether that body is in the form of 'deha' or in the form of "dhī", or in the form of "prāṇa" or as "śūnya".

एवं-thus, देहे-in "I ness" or बाह्ये-in "this ness", सर्वत्र-everywhere, अस्य-to

this yogi, मयूराण्डरसवत्-like the plasma of the peacock's egg, अविभक्तैव-undifferentiated, प्रतिपत्तिः - perception of oneness, भवति-is.

Thus in the body and in every where externally, his perception of oneness is undifferentiated as the plasma of the peacock's egg is undifferentiated.

तदुक्तं- as is said, श्री विज्ञानभैरवे-in Vijñāna-bhairava :-

Just as the waves are not separate from water, just like flames are not separate from fire, just like rays are not separate from sun, in the same way all currents and flows of universe have come into the manifestation from consciousness of Bhairava.

The same idea has been explained in the following verse of Spanda-Kārikā :-

Hence, there is no state in contemplations of the word and the meaning, which cannot be identified with Śiva. The experiencer stands everywhere and always in the form of the experienced.

यत् च इदं सर्वस्य दृश्यस्य शरीरतया, शून्यान्तस्य च दृश्यतया एकरूपं प्रकाशनं उक्तं न एतत् दुर्घटम् ; अपितु -

हृदये चित्तसंघट्टात् दृश्यस्वापदर्शनम् ॥ १५ ॥

hrdaye citta samghaṭṭāt dṛśya svāpa darśanam

यत् च इदं उक्तं- it has been said that, सर्वस्य दृश्यस्य- all this objective world, शरीरतया- his own self-his personal body, शून्यान्तस्य च-and right upto the void, प्रकाशनं एकरूपं- perceives just one with, दृश्यतया- like an object, न एतत् दुर्घटम्- this kind of achievement is not difficult for such a yogi, अपितु - rather -

चित्तसंघट्टात्- by establishing one's mind हृदये- in the heart-the universal consciousness-दृश्य स्वापदर्शनं- the world of perception appears as one's own nature. thus when all the thoughts of one's mind are diverted to the heart - the centre of God consciousness, then one feels the existence of God consciousness in objective world and the world of negation. In oneness he feels the existence of objective world and the existence of negation of it. At the time of death i.e. सुषुप्तिः (Suṣupti) - sound sleep, the negation of objective world takes place. In that also he feels the existence

of God consciousness.

विश्वप्रतिष्ठास्थानत्वात् चित्प्रकाशो हृदयं ; तत्र चित्तसंघट्टात्—चलतश्चलतः तदेकाग्रभावनात्, दृश्यस्य—नीलदेहप्राण बुद्ध्यात्मनः ; स्वापस्य च—एतदभावरूपस्य शून्यस्य ; दर्शनं—त्यक्त ग्राह्य ग्राहक विभेदेन यथावस्तु स्वाङ्गकल्पतया प्रकाशनं, भवति। चित्प्रकाशतामभिनिविशमानं हि चित्तं तदाच्छुरितमेव विश्वं पश्यति। तदुक्तं श्री विज्ञान-भैरवे :—

हृद्याकाशे निलीनाक्षः पद्मसंपुटमध्यगः।

अनन्यचेताः सुभगे परं सौभाग्यमाप्नुयात्॥

इति। परं हि अत्र सौभाग्यं विश्वेश्वरतापत्तिः। तत्त्ववृत्तिसमापन्नं महायोगिनमुद्दिश्य श्रीमत्स्वच्छन्देऽपि —

सच भूतेषु सर्वेषु भावतत्त्वेन्द्रियेषु च।

स्थावरं जङ्गमं चैव चेतनाचेतनं स्थितम्॥

अध्वानं व्याप्य सर्वं तु सामरस्येन संस्थितः। इति।

स्पन्देतु-

अनेनाधिष्ठिते देहे यथा सर्वज्ञतादयः।

तथा स्वात्मन्यधिष्ठानात्सर्वत्रैवं भविष्यति॥

इत्यनेनैव एतत् संगृहीतम्॥ १५॥

विश्व प्रतिष्ठास्थानत्वात् — the background of the existence of whole universe, चित्प्रकाशो हृदयं—the heart—that means the centre of consciousness or the light of consciousness ; तत्र—on that consciousness, चित्तसंघट्टात्—by establishing one's mind, चलतश्चलतः तदेकाग्रभावनात्—yogi concentrates his mind on that point, although the mind is always flickering, it cannot stand at one point, but by the भावना of one pointedness it becomes, दृश्यस्य नीलदेहप्राणबुद्ध्यात्मनः — objective world like blue, body, prāṇa and mind i.e. जाग्रत् स्वप्न, सुषुप्तिः। स्वापस्य च एतदभावरूप शून्यस्य ; — the void, i.e. the negation of that voidness, दर्शनं—the appearance of everything, त्यक्त—discards away, ग्राह्यग्राहक विभेदेन—the differentiatedness of subjectivity and objectivity, यथावस्तु—in its essential reality, स्वाङ्गकल्पतया प्रकाशनं भवति—he feels this whole universe as limbs of his own body, चित्प्रकाशतां अभिनिविशमानं हि चित्तं—when you make your mind to enter in the light of consciousness,

तदाच्छुरितमेव हि विश्वं पश्यति—your mind feels one with that universal being. तदुक्तं श्री विज्ञानभैरवे— as is said in Vijñānabhairava- सुभगे— O Pārvaṭi ! हृद्याकाशे निलीनाक्षः — one who has sentenced all the organs including mind in the wideness of चित् प्रकाश— light of consciousness the heart, and remains into the centre of the two bowls of the heart lotus पद्मसंपुटमध्यगः— (thisness and I-ness are two bowls of the lotus) अनन्यचेताः — When one is established in one pointedness there परं सौभाग्यमाप्नुयात्— he becomes glorified with God consciousness.

अत्र— in this verse, परं हि सौभाग्य विश्वेश्वरतापत्तिः — the glory is that he becomes the king of whole universe तत्त्ववृत्तिसमापन्नं महायोगिनं उद्दिश्य— to that yogi, who is established in the state of highest Reality. श्रीमत्स्वच्छन्देऽपि— Svachchanda Tantra also refers about him in the following verse :-

सच— that yogi, भूतेषु सर्वेषु— in all classes of beings भाव—objects तत्त्व— like earth etc. इन्द्रियेषुच— and the senses, स्थावरं— inanimate, जङ्गमं चैव— and animate, beings, चेतनाचेतनं स्थितं— manifest in the conscious and in the unconscious entities, अध्वानं व्याप्य सर्वं तु— pervading the six types of अध्वा, सामरस्येन संस्थितः— becomes one with that. स्पन्देतु इत्यनेनैव एतत्संगृहीतम्— the same idea has been expressed in the following verse of Spandakārikā:-

अनेन— by the Spanda principle, अधिष्ठितेदेहे— embodied on the body, यथा— just as the सर्वज्ञतादयः — omniscience, omnipotence etc. तथा— so, स्वात्मनि अधिष्ठानात्— where the yogi takes his stand in his own real self, सर्वत्रैवं भविष्यति— he will every where and in the totality of categories from Śiva down to earth becomes possessor of such attributes.

The background of the existence of whole universe is the heart-the light of consciousness : By establishing one's mind, which is always fickle by the Bhavanā of one-pointedness, on that point, a yogi sees the whole universe as saturated with that consciousness and discards away the differentiatedness of subjectivity and objectivity in its essential reality. He feels this whole universe as limbs of his own body and his mind feels one with that universal being. As has been expressed in Vijñānabhairava O, Pārvaṭi ! who sentences all the organs including mind in the ether of light of consciousness—the heart, and remains into the centre of the two

bowl of the heart lotus, he is established in one pointedness and he becomes glorified with God-consciousness i.e. he becomes the king of whole universe. Svachchanda Tantra also refers about that yogi who is established in that state of highest reality, in the following verse that such type of a yogi who has realized his identity with the highest reality pervading in all classes of beings, objects, Tattvas, the senses, animate and inanimate entities conscious and unconscious ones as identical with Bhairava in all beings.

The same idea has been expressed in the following verse of Spandakārikā that by virtue of spanda reality just as omniscience etc. reveal themselves on the pervasion of the body, so when the yogi, takes his stand in his own realself he every where and in the totality of categories from Śiva to earth, becomes possessor of such attribution.

(To be continued)



Madālasā, a yogini of the first order, addresses the young boys as under:-

त्वं कञ्चुके शीर्यमाणे निजेऽस्मि-

न्देहे हेये मूढता मा व्रजेथाः।

शुभाशुभैः कर्मभिर्देहमेवं

मदादिभिः कञ्चुकस्ते निबद्धः॥

(Tvam kañcuke śīryamāṇe nijesmin-

dehe heye mūḍhātā mā vrajethāḥ

śubhāśubhaiḥ karmabhirdehamevaṃ

madādibhiḥ kañcukaste nibaddhaḥ.)

May you not be reduced to stupidity with regard to this your own worn-out dress, your own body, which deserves to be cast off. This your body is determined by virtuous and vicious acts and this your dress by pleasure etc.

(From : Spandakārikā)

SEVEN STATES OF A ŚAIVA YOGĪ

Īśvara Svārūpa Svāmī Lakṣmaṇa Joo Mahārāj

Kashmir Shaivism has explained the following seven states of a śaīva yogi. :-

- I *Sakala-pramatri-bhava*
- II *Pralaya-kala-pramatri-bhava*
- III *Vignyana-kala-pramatri-bhava*
- IV *Mantra-pramatri-bhava*
- V *Mantreshwara-pramatri-bhava*
- VI *Mantra-maheswara-pramatri-bhava*
- VII *Shiva-pramatri-bhava*

First, I'll touch here what Sakala-pramatri-bhava means. Sakala-pramatri-bhava is that state when a yogi meditates on some yogic point explained to him by his master. He goes on meditating on that point. But at the same time, he does not ignore consciousness of worldly activities. It means he has not entered in his God consciousness. He is only meditating and is aware of worldly activities also. It means that he hears sound of people, activities of people, he can experience. But although his eyes are shut and he is doing his own meditation, still he is not away from the experience of outward activities. This is Sakala-pramatri-bhava state. This is the first state a Śaiva yogi experiences.

Next state Pralaya-kala-pramatri-bhava. is that state when a yogi while meditating sinks in his meditation, and is absolutely unaware of outward, what is going on outside. He is focussed in his own mediation, but at the same time his meditation falls, he enters his subconscious state where he does not experience even what he is meditating upon. It is called Pralaya. Laya means when he is not aware of his meditation also. His meditation also sinks at the same time. He is not aware of outward activities also. He is just like in sound sleep. It is not exact sound sleep. But it is just like sound sleep. Thus it is that state of yogi where he is absolutely unconscious of what he is doing, what he is meditating upon. But at the same time, he is absolutely away from outward worldly activities. It is not here, it does not have sensation of outward touch, nothing else. This Pralaya-kala-pramatri-bhava is classified in our Kash-

mir Shaivism in two sections. First is Savedya-Pralaya-kala-pramatri-bhava. next is Apavedya-Pralaya-kala-pramatri-bhava. Savedya-pralaya-kala-pramatri-bhava is that state of a yogi where while meditating upon his yogic point described by his master, he sinks in that yogic point and is absolutely unaware of that meditating point, where he is meditating upon. He loses his awareness, and at the same time, he loses his awareness of worldly activities also. Savedya-pralaya-kala-pramatri-bhava is that state where he experiences that unconscious state, then he comes out from that state. As in dreaming-sound sleep, when you come out from sound sleep, you say that I was sleeping, but I don't know anything. It means you are experiencing some unconscious state, but you are not conscious at that moment of experience. But afterwards when you come out from that unconscious state, you feel, there is memory in the background of your brain that you were unconscious. This state of yogi is called Savedya-pralaya-kala-pramatri-bhava. In this state of a yogi breathing also remains. He breathes in and out at the same time. The breathing does not stop.

Apavedya-pralaya-kala-pramatri-bhava is next state of this second yogic state, Pralaya-kala-pramatri-bhava. And when yogi is keen to go ahead in his meditation and while doing his meditation his breathing becomes so subtle and fine and he cannot experience if he is breathing at all, but he is breathing at the same time, he is breathing very minutely. His breathing is very subtle. He breathes in and out slowly and absolutely in God consciousness. But that God consciousness is not quite clear to him.

In this state, he is absolutely unaware of worldly activities and God consciousness. His senses do not function. For instance, he cannot move his hand, he cannot open his mouth, he cannot have sensation of touch, he cannot have sensation of outward smells. All these outward sensual experiences stop altogether. But only there is one thing. One exception for him. He can open his eyes and close his eyes. But while opening his eyes, he cannot see anything, only shaded traces of his room where he is sitting. He cannot point out what it is, there is curtain before him. He cannot experience that it is curtain. He'll experience only traces of some sheet and he won't know what it actually is, so he is absolutely away from worldly activities and he cannot experience outward worldly sensations. But

internally what he experiences is not exact God consciousness. But he experiences something. He gets entry. Entry in God consciousness. He experiences that internal joy of self. But that internal joy is not absolutely vivid dream, he is absolutely peaceful, while remaining in that joy. And that joy is touching God consciousness. This state of yogi is called Vignayana-kala-pramatri-bhava and is third state of a yogi. And in this Vignayana-kala-pramatri-bhava, he experiences God consciousness, sub-God consciousness. I cannot say that it is exact God consciousness. It is just traces of God consciousness. And those traces of God consciousness he experiences in various ways. Sometimes he experiences God consciousness with tremendous sounds, internal tremendous sounds, sometimes he experiences God consciousness with tremendous joy. sometimes he experiences God consciousness with tremendous beauty, tremendous divine smell. Everything, whatever he experiences in divinity, he experiences everything divine. But at the same time, he is not exactly experienced in God consciousness in true sense. In this Vignayana-kala-pramatri-bhava he can do good to others. If he thinks of a certain thing to be done, it will be done. If he thinks that it should remain in such-and-such way, that will remain in that way. So he possesses that power there, but our masters ordered their disciples not to be given to these powers, only if it is given to these powers and he does these cursing extra to others in this state of Vignayana-kala-pramatri-bhava he won't go ahead. He will just be stuck there.

Fourth state is called Mantra-pramatri-bhava. In this state of Mantra-pramatri-bhava, a yogi experiences while doing his meditation, he experiences first that all his breath is coagulated, is balled, and his, breathing does not function. His breath gets entry in internal central way-Sushumna Madyanadi. And then while entering in Madhyanadi it rushes there and then it goes down to the bottom. It rises again and then, it rises again internally, not in the wheels of breath. Internally in Madyanadhi, that is called the state of Samadhi. This state of Samadhi where there is no breath is already explained in some Tantra:

Pranaṣṭa vāyu sañchārah

Pāṣāṇa iva niśchalah

Para jīvaiky dharmajño Yogi yoga viducyute.

When breathing, does not function. Yogi is just like a rock. but at the same time, he is nearer God consciousness. He experiences sat, cit, and ananda. Sat is that state of God when he experiences that "I am eternal". Cit is "I am filled with awareness". Ananda is "I am filled with peak ecstasy, bliss". These threefold experiences come in this state of Mantra-pramatri-bhava. In this state of Mantra-pramatri-bhava, he cannot give curse or boons or anything. He cannot think of anything else. He only thinks of his own self. He does not know work. He has absolutely ignored world, worldly activities, worldly activities are over, finished. He is only residing in his own nature, and that nature is sat, cit and ananda. In this world experiencing he experiences God consciousness and in fullness, but as soon as he comes out of God consciousness that intoxication remains not only for one hour, two hours, days, months, but for his whole life. He is intoxicated for good. He experiences that blissful state always afterwards.

In this state of Mantra-pramatri-bhava, although he is one with God consciousness, but while coming out from this Mantra-pramatri-bhava in Vyutthana, I mean when he comes out from Samadhiwhen he experiences the activities of the world outside, he is blissful. But at the same time, his differentiated perception of world remains in his subconsciousness. He can perceive the worldly activities fully, undifferentiatedly. But it does not happen to him who has entered in Mantreshwara-pramatri-bhava. It is that state when a yogi experiences God consciousness in and out. But there is, one leakage. That is, when coming out from this Mantreshwara-pramatri-bhava state, when he comes out in vyutthana, in worldly activities, he feels worldly activities first, and then sinks in God consciousness. In worldly activities he does not sink in God consciousness first and then comes out in worldly activities. He perceives worldly activities and then sinks in God consciousness. Whereas in the next state of yogi which is called Mantra-maheshwara-pramatri-bhava a yogi feels God consciousness first and worldly activities afterwards. Worldly activities lying in God consciousness. Whereas in Mantreshwara-pramatri-bhava, he feels worldly activities first and then God consciousness, in the background of worldly activities. In Samadhi, the same, fullness of God consciousness he experiences. These both states give you same experience in Samadhi, but in vyutthana, coming out from Samadhi, there is this

much difference. In Mantreshwara-pramatri-bhava, you feel God consciousness first and then you feel differentiated perception, and in the background of differentiated perception, you feel God consciousness. In Mantramaheshwara-pramatri-bhava, you feel God consciousness first in worldly activities, but afterwards, worldly activities shine in God consciousness. This is the difference between Mantramaheshwara-pramatri-bhava and Mantreshwara-pramatri-bhava. Although these two states in true sense do not differ, they are filled with God consciousness, both. But this one difference is there, So it is nominated as Aham Idam. I am this, where Mantreshwara-pramatri-bhava experiences this is I. So first falls this, and then I. In Mantreshwara-pramatri-bhava, first I, and then This. This is the difference between Mantra-maheshwara-pramatri-bhava and Mantreshwara-pramatri-bhava.

Next and last state of yogi is called Shiva-pramatri-bhava. In Shiva-pramatri-bhava state, he experiences God consciousness all around. There is no question of remaining of outside or remaining inside. Inside and outside merge in oneness. For him, there is no internal experience or external experience. Internal and external experience are united altogether. Difference does not arise of externality and internality. This is the state which is the highest and last state of yogi, where yogi melts and dissolves for good in God consciousness. This yogi is one with Shiva, although his body remains. It is why in Shiva Sutras, he is called like Shiva, he has become like Shiva. He is not Shiva because of his body. When his body, this physical frame also falls down, at the time of the leaving his body, he becomes one with Shiva. One with that great ocean of God consciousness. So this is the kingdom a yogi experiences in our Kashmir Shaivism.

So here we have explained these seven states of a yogi, which are respectively Sakala-pramatri-bhava, Pralaya-kala-pramatri-bhava, Vignayana-kala-pramatri-bhava, Mantra-pramatri-bhava, Mantreshwara-pramatri-bhava, Mantra-maheshwara-pramatri-bhava and lastly, Shiva-pramatri-bhava. These seven states of yoga are felt by a Shaivite yogi, under the supervision of his experienced master. As it is already explained in our Shaivism that Lord Shiva possesses his great energy, Svatantrya-shakti, absolute independence. And this energy of absolute independence

of Lord Shiva is encircled by his five energies. Cit-shakti, Ananda-shakti, Iccha-shakti, Jnana-shakti and Kriya-shakti. Cit-shakti means absolute consciousness. Ananda—absolute knowledge. Kriya-shakti absolute action. In the same way, all these seven pramatris residing in seven states, seven yogic states, that have not ignored to possess their energy Svatantrya shakti, but in their own way. Sakala-pramatra possesses his Svatantrya shakti which is encircled just like Shiva, Shiva svatantrya shakti, with, five energies: consciousness, bliss, will, knowledge and action. So Sakala-pramatra possesses his energies. In the same way Pralaya-kala-pramatra also possesses his energies. And Vignyana-kala-pramatra, Mantra-pramatra, Mantreshwara-pramatra, Mantra-maheshwara-pramatra also possess his energies. But these energies which they possess are not absolute energies, because they reside in their own limited way. Whereas the energy of Lord Shiva is absolute energy. So his energy Svatantrya shakti, will be called not energy of independence, but absolute independence. And his consciousness will be absolute consciousness. Energy of bliss will be absolute bliss. And Sakala-pramatra, Vignyana-kala-pramatra, all these pramatras have their own energy but not absolute energy. Because they are residing in their own limited way. It is explained in our Kashmir Shaivism that all these pramatris have got their own energies. So there are seven pramatris which will possess seven energies also. So seven pramatris and seven shaktis make fourteen. Fourteen aspects of all these pramatris.

Now, in our Kashmir Shaivism, it is explained how one has to ascend from objective world to absolute Shiva, Shiva-bhava, and for that, there are so many signs, so many techniques of ascending process. You have to ascend from objective world to ultimate, absolute Shiva-pramatra-bhava. you have to begin from objective world. Your pointing state is object. And you have to direct yourself from objectivity to absolute subjective consciousness, that is Shiva-pramatra-bhava. For this, there are seven techniques to rise. First technique is fifteen-fold science, fifteen-fold technique. Next is, thirteen-fold technique. Third is elevenfold technique. Fourth is nine-fold technique. Fifth is sevenfold technique. Sixth is five-fold technique, and Seventh is three-fold technique.

Fifteen-fold, thirteen-fold, eleven-fold, nine-fold, seven-fold, five-

fold and three-fold. Now, I will explain here how this is practised. You have to begin from fifteen-fold technique. First, fifteen-fold technique is to rise from Sakala-pramatri-bhava to Shiva-pramatri-bhava. For instance, when a yogi resides in Sakala-pramatri-bhava, his object is objective world. So the, objective world is his point of meditation. He has to rise from that objective world to Shiva-pramatri-bhava. Objective world is first point. Then he has to rise from objective world to Sakala-pramatri-bhava. and his energy. Pralaya-kala-pramatri-bhava and his energy. Vignyana-kala-pramatri-bhava and his energy. Mantra-pramatri-bhava and his energy. Mantreshwara-pramatri-bhava and his energy. Mantra-maheshwara-pramatri-bhava and his energy, and Shiva-pramatri-bhava and his energy. So, there are seven plus seven—seven energy holders and seven pure energies make fourteen. And the object is objective world. Pointing, meditation point is objective world there. So this is fifteen-fold technique to rise from objective world to Shiva-pramatri-bhava. When this is complete, when this course of fifteen-fold science is complete, then you have to jump in another next thirteen-fold science. In that thirteen-fold practice science you have to ignore objective world absolutely. There is no objective world at all. Your object of meditation is Sakala-pramatri itself. So Sakala-pramatri is object, and there is no energy there. It is only, Sakala-pramatri is residing, in objective state. So you have to make concentrating point on Sakala-pramatri, no objective world. Objective world is ignored. It has gone. It has vanished altogether, and its subjective consciousness should remain in Pralaya-kala-pramatri. and his energy. Then you have to rise from Pralaya-kala-pramatri energy to Vignyana-kala-pramatri-bhava and his energy. Then from Vignyana-kala-pramatri-bhava and his energy you have to rise to Mantra-pramatri-bhava and its energy. The Mantreshwara-pramatri-bhava and his energy. Then Mantra-maheshwara-pramatri-bhava and his energy. Then Shiva-pramatri-bhava and his energy. And this kind of technique of process is thirteen-fold technique.

Now, when this thirteen-fold technique is over, then you have to jump in another next technique that is eleven-fold technique. In this eleven-fold technique yogi has to see that Sakala-pramatri-bhava which was object in thirteen-fold science has vanished altogether. Now, he has to rise from Pralaya-kala-pramatri-bhava. Pralaya-kala-pramatri-bhava is his medita-

tion centre. There is no energy there. It is only residing in objective consciousness. So, Pralaya-kala-pramatri-bhava is point, from which you have to rise to absolute, to Shiva-pramatri-bhava. So that will be your object. Pralaya-kala-pramatri is your object. And you have to observe that Pralaya-kala state from Vignyana-kala-pramatri-bhava, and Vignyana-kala-pramatri-bhava and his energy. Mantra-pramatri-bhava and his energy. Mantreshwara-pramatri-bhava and his energy. Mantrmaheshwara-pramatri-bhava and his energy, and then Shiva-pramatri-bhava and his energy.

So here, Pralaya-kala-pramatri is object and observing centres are five. Five in the world of energy holders, five in the world of energies. make ten. And the objective centre which is Pralaya-kala, makes eleven. So this is eleven-fold science of rising to Shiva-pramatri-bhava.

Now, when this eleven-fold science of rising to Shiva-pramatri-bhava is completed, then yogi has to jump in another technique of nine-fold science. In that nine-fold science, the state of Pralaya-kala has absolutely, vanished. So you have to begin, you have to meditate from Vignyana-kala. So Vignyana-kala-pramatri-bhava is your objective center there. From Vignyana-kala-pramatri-bhava you have to observe this Vignyana-kala-pramatri-bhava from Mantra-pramatri-bhava, Mantreshwara-pramatri-bhava and Shiva-pramatri-bhava. So four pramatri bhavas and four energies, make eight and the object is nine. So this is nine-fold science.

Now, when this nine-fold technique of ascending process is, completed, we jump in this seven-fold process. In this seven fold process, Mantra-pramatri is objective center. So there is no question of Vignyana-kala-pramatri or Pralaya-kala-pramatri or Sakala-pramatri. They have altogether vanished only objective center remains residing in Mantra-pramatri. So he has to rise from Mantra-pramatri-bhava, to Mantreshwara-pramatri-bhava and to Shiva pramatri bhava. So two from Mantra-maheshwara, and two from Shiva pramatri and mantra pramatri object is one make five-fold-science. When this five fold science of rising to Shiva pramātri bhāva is completed, then yogi has to jump to three-fold science of rising. In this technique mantra mahesvara pramatri bhava is objective centre and from

that a yogi has to rise to Shiva pramatri bhava. So Shiva pramatri bhava and energy are two and the object mantra Mahesvara pramatri bhava is one. Two and one makes three. This is three-fold science.

Courtesy Sh. I.K.Raina and Sh. S.K.Raina



It is noteworthy to mention here that Sh. I.K.Raina and Sh. S.K.Raina were in possession of many rare literary philosophical and Pauranic books in their personal library at Nishat Srinagar. They donated all these rare books to Ishwar Ashram Trust in April, 1999. along with their three-storeyed mansion. We all members of Ishwar Ashram express our gratitude for their exceptionally benevolent act and pray to Sadguru Maharaj for their worldly and spiritual upliftment.

CONTENTS
OF
PRATYABHIJÑĀ
(A Bird's eye view)

By Late Dr. R. K. Kaw
(Founder of Sharada Peetha Research Centre,
Srinagar)

Utpaladēva's work—Ishvara Pratyabhijna Karikas (Sutras)—is divided into four sections—Adhikaras. The first section—Jnanadhikara deals with Cognition; the second section—Kriyadhikara treats of Activity; the third section—Agamadhikara discusses the 36 principles (Tattvas) of Shaiva school; and the fourth section-Tattvarthasamgrahadhikara relates to the essential nature of the Supreme Being and recapitulates the doctrines expounded in the foregoing Adhikaras. In all 16 Ahnika (cantos) of the work cover all the four sections.

In Ahnika I of Section I of the work, Utpaladeva follows his teacher in attributing the powers of Action and Cognition, or the same in reverse order, to the Self, the Ultimate Cause (called in his system Maheshvara) as His two primary powers. Later he assigns the Sovereignty of Will (माहेश्वर्य) also as another primary power to the Ultimate Cause. All creation from an atom to a mountain, all that lives or can be said to exist in any form, in the form of sentient or insentient object, microcosm or macrocosm, is endowed with these two characteristics (यो हि जानाति च करोति च स जीवति). In the Introductory verse (I, 1) of his work Utpaladeva says, "...Wishing to help men I set forth the Pratyabhijna Philosophy which is the means of attaining all that is of highest value". On this point the teacher introduces a discussion. The Purvapakshin questions when Atman (Self) is the self-luminous Maheshvara, the Ultimate Being, Actor and the Knower, where arises the occasion for His Recognition or realisation? All talk of establishing or rejecting the existence of such an eternal and conscious Being is in vain. (कर्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादिसिद्धे महेश्वरे। अजडात्मा निषेधं वा सिद्धिं वा विदधीत कः १,२). The Uttarapakshin, the teacher, answers the question:

although Atman is self-luminous, yet His real nature is not manifest due to His own deluding power (माया विमोहिनी शक्तिः). It, however, becomes manifest by his own perceiving power (हृत्क्रियात्मिका शक्तिः) which remains hidden from awareness due to his innate delusion. It is the Recognitive insight (Pratyabhijna) which revives this perceiving power. (किंतु मोहवशादस्मिन्दृष्टेऽप्यनुपलक्षिते। शक्त्याविष्करणेनेयं प्रत्यभिज्ञोपदृश्यते 1, 3) The Purvapakshin questions again, the perceiving power can be possible with regard to sentient beings only; how is it to be assigned to insentient objects? The teacher answers the question: The existence of insentient objects depends upon sentient beings, for it is an admitted fact that the life of all living things comprises 'Knowledge' and 'Action'. Thus in their very manifestation the insentient objects are also endowed with these two characteristics. Again, the Purvapakshin questions, how is the existence of Knowledge and Action as two primary powers of Atman to be proved? The teacher says, "Out of these two, Knowledge is self-established (स्वतः सिद्धम्) whereas Action (which is also self-established स्वतः सिद्धा) is associated with a body (क्रिया-कायाश्रितासती) and is thus perceptible to other perceivers; and it is through Action that other's Knowledge can be inferred." In this manner all the objections with regard to Recognition are waived. (Ref. Pratybhijna Sutras 1, 4 and 5).

In the next two Ahnikas (Cantos 2 & 3) the teacher introduces another discussion to refute the theory of Buddhist Saugatatas, according to which the perceiving Self is not a permanent being. The theory of the Saugatatas is based on their doctrine of General Momentariness. Utpaladeva rejects the theory mainly on the ground of the phenomena of remembrance, and establishes the existence of permanent Self. He says, if we do not admit a persisting Self, the settled order of the world will not be possible. In the state of General Momentariness, even perception is impossible, since the three notions occurring in this experience viz. 'I', 'awareness' and the 'object', belonging to three different moments of time, cannot be joined together in one identical relation. The Buddhists have no reason to suppose that these three notions do not involve three successive stages. On the other hand, we are conscious of our identity that we persist in all our changing states of consciousness, and though our ideas are continuously changing with the changing objects, we remain unchanged all the same,

and this shows that in knowing ourselves as pure 'awareness', we are successively connected with the changing objects. The existence of a permanent entity persisting in the changing states of consciousness is established as a matter of our common experience, as it is this persisting entity Self which, in the later state of remembrance, remembers an object which he perceives in the previous state. On this point the Purvapakshin states that it is the residual trace or impression (Samskar) that causes remembrance. Therefore, it is unnecessary to assume the existence of another superfluous entity 'Atman'. Utpaladeva replies this point saying that one perception, say the perception of sight differs from another, say, the perception of taste. As stated by the Purvapakshin (Bauddha), remembrance of previous perception arises from the residual trace or impression (Samskar) which is supposed to be the common ground of perceptions without recourse to a persisting self. By such an assumption it follows that one impression (Samskar), say, the impression of sight-perception and vice versa. This evidently leads us to impossibilities, unless we admit the existence of a persisting Self who experiences different states of consciousness.

After proving the existence of a permanent Self (Atman). called Mahesvara, Utpaladeva states that He is endowed with three powers, viz. the power of Remembrance (Smarana-shakti), the power of Knowledge (Jnana-shakti) and the power of Differentiation (Apojana-shakti) which are the three forms of Cognitive Power (Jnatratva shakti), the first Primary power assigned to the Self. The Power of Remembrance (Smarana-shakti) is that power by virtue of which Atman who experiences the perception of an object in one state, remembers the same in another state. In the latter state the Self is rememberer (Smaratā). In the absence of remembrance also the self still exists possessing the power of Remembrance (Smarana shakti), as one of his powers of faculties. The power of remembrance is fully discussed in Ahnika 4. The power of Knowledge (Jnana-shakti) functions in making objects manifest externally in the form of their perceptions which existed within the form of self-consciousness. By virtue of this power the Self takes out for separate manifestation only certain things from the unlimited mass which lies merged in it (स्वरूपादुन्मग्नमाभासयति). The real nature of objects, according to the

system, is Prakasha (manifestation) (प्रकाश एव अर्थानां स्वरूपम्) which is innate in Jnana-shakti. From this point of view objects are real against the Vijñanavadin's theory that they are the transformation of our Vasana (desires) and do not have separate real existence. The processes (Vrtis) of mind (Antah Karana) viz. will (Iccha), Knowledge (Jnana) and action (Kriya) function by the power of Knowledge (Jnana shakti). The power of knowledge is explained in detail in Ahnika 5. The power of Differentiation (Apohana shakti) is that power of Self which enables Him to manifest one object, say, a jar (ghata) different from any other object, non-jar (aghta), or the appearance (Prakasha) of an object different from its disappearance (Aprakasha). The doctrine concerning the power of differentiation is expounded in Ahnika 6. After explaining the functions of these three powers. Utpaladeva proves that they rest in one substratum, the lasting Self (Atman), the Maheshvara. This is established on logical grounds in Ahnika 7. Maheshvara is assigned the sovereignty of will (माहेश्वर्य) or Volitional power (Iccha shakti) as its another Primary power. Somananda has treated this as the first or basic power in Shivadrsti I. This power, माहेश्वर्य is explained by Utpaladeva in Pratyabhijna Sutras (Ahnika 8) in a novel way. Here he introduces two new theories, (1) Svatantryavada and (2) Abhasavada.

Section 2 (Kriyadhikara) of the work deals with Kriya-shakti (the power of physical activity), the second primary power of the Ultimate Reality. The whole creation or, in other words, manifestation is the result of the Kriya shakti; as under the operation of its three laws, viz. the law of Division (भेदाभेद), the law of Perception (मान तत्फल मेय) and the law of Causation (कार्यकारण) it turns into a constituent power (निर्माण शक्ति) which brings into existence the whole cosmos. In section I of Kriyadhikara, Utpaladeva discusses the nature of Kriya-shakti. In regard to this, the Purvapakshin questions : Kriya involves succession (krama) causing plurality which is contrary to the nature of Self Who is, in essence, devoid of plurality, according to the Monistic Doctrine of Shaivas. The Utrapakshin, teacher, answers as follows :—Action (Kriya) involves plurality on account of the function of काल शक्ति (principle of time). Plurality is the result of perception of an object at different moments of time :— कालः सूर्यादि संचारस्तत्तत्पुष्पादि जन्म वा। शीतोष्ण वायु तल्लक्ष्यः क्रम एव

तत्त्वतः A Self possessing the Kriya-Shakti as one of His primary powers is unaffected by Kala-Shakti and is thus free from the nature of plurality. The teacher explains plurality also by the theory of manifestation (Abhasavada), which is a quite new theory in the Pratyabhijna Philosophy. According to this theory, Atman or maheshvara (Lord) is the Manifester of diverse manifestations (चित्राभासकृत् प्रभु) in the form of various objects of this universe. The Kala Shakti of the Lord (Atman) differentiates various manifestations at different moments of time as distinct entities. By this theory of manifestation (Abhasavada) are also explained the relations of Plurality and Unity (Bhedabheda), the relation of 'Subject', 'awareness' and the 'object' (Pramata, Pramana and Prameya) the relation of Cause and Effect (Karana karaya), in conformity with the doctrine of Monism (Advaita). Ultimately there exists Unity in Plurality (Bhedabheda). This is the first or the fundamental law of Kriya Shakti of which the other two laws, the law of Perception and the law of Causation, are derivatives or corollaries. These three laws are comprehensively discussed, in three separate sections of Kriyadhikara, in Utpaladeva's work. Thus in this system One Lord is both the Manifester subject (Aham) and the manifested object (Idam). The manifested world is analysed into thirty-six Categories (or principles of Creation) called Tattvas, from Shiva, the highest principle, to the earth, the principle of solidity.

Part III, Agamadhikara, of Utpaladeva's work treats of different supernatural elements as derived from the dogmas of the Agamashastra. After describing the thirty-six categories of Abhasavada, it gives the pure and impure creation of perceivers (Pramatas); the bondage (Samsara) and impure creation of perceivers (Pramatas); the bondage (Samsara) and freedom (Svatantrya); the impurities (Malas)—Anava (The innate impurity), Mayiya (the impurity caused by the principle of limitation—Maya) and karmiya (impurity in the shape of lack of knowledge of right and wrong actions); the different states of perceivers, viz. Jagrat (waking), Swapna (dreaming), Sushupti (dreamless sleep), Turya (fourth state) and Turyatita (beyond the fourth state); released souls (Pati) and the other perceivers (Pasu); common creation; the two classes of Samsarins (worldly men); four methods of realisation for liberation (freedom), Shambhavopaya, Shaktopaya, Anavopaya and Anupaya and so on. (The fourth and fifth

states given above are those of the Yogin's intuition).

Part IV, Tattva-samgrahadhikara, the last part of the Utpaladeva's work, recapitulates all the important doctrines of the Pratyabhijna system as discussed in the first three parts of the work and explains further the essential nature of the Highest Being which is the Self of all living beings (स्वात्मैव सर्व जन्तूनामेक एव महेश्वरः). The summum bonum of this system is to 'recognise' the supreme and free nature of Self realizing that all this world is one's own creation (सर्वोममायं विभव इत्येवं परिजानतः). Thus fully knowing one's Self and its highest potential powers of Cognition and Action, one thinks and acts in a right manner to see all his desired objects accomplished. (एवमात्मानमेतस्य सम्यग्ज्ञानक्रिये तथा। जानन्यथेप्सितान्पश्यब्जानाति च करोति च॥) (Ishvara Pratyabhijna Sutras IV, 1.) The gratification one feels by realizing one's self as supreme and free soul is best described by Utpaladeva by the example of the proverbial maiden (in तन्त्रालोक Ahnika IV, 2): 'A certain damsel, hearing of the many good qualities of a particular gallant, fell in love with him and agitated by her passion and unable to suffer the pain caused by his absence from her, wrote to him a love letter describing her condition. He at once came to her; but when she saw him, she did not recognise in him the qualities she had heard about; he appeared much the same as any other person and she found no gratification in his society. Soon, however, as she recognised those qualities (in him) as her companion now pointed them out, she was fully gratified. Similarly one cannot get the real happiness unless one recognises the nature of Supreme Self in one's individual self. (तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनतस्तन्व्याः स्थितोऽप्यन्तिके। कान्तो लोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा। लोकस्यैष तथा . . .). When one recognises one's profounder Self, he feels that he has attained what is of highest value, as he will not be wanting anything because of his former inferiority complex, since he finds that his own profounder faculties, now-recognised, are there to provide him what he wants and to lead him to final beauty. Utpaladeva says, at the end, that he has set forth this Ishvara Pratyabhijna "in order that common man may have the transcendental power (Siddhi) without much effort." (जनस्यायत्नसिद्धयर्थम् . . . ईश्वरप्रत्यभिज्ञेयमुत्पलेनोपपादिता)॥



THINK IT OVER

पात्रे दत्त्वा प्रियाण्युक्त्वा
सत्यमुक्त्वा अतन्द्रितः।
अहिंसानिरतः स्वर्गं
गच्छेदिति मतिर्मम॥

Who gives in to the best deserving. Who appeases all by speaking sweet words who is devoted to non-violence, he goes to the heavenly abode. This is my firm conviction.

तिस्रो वै गतयो राजन्
परिदृष्टाः स्वकर्मभिः।
मानुषं स्वर्गवासश्च
तिर्यग्योनिश्च तात्रिधा॥

O King Yudhishtira ! Three kinds of births are acquired by beings through their Karmas - human birth, heavenly life and beastly living.

तत्र वै मानुषाल्लोका-
ददानादिभिः प्रयत्नतः।
अहिंसार्थं समायुक्तैः
कारणैः स्वर्गमुच्यते॥
विपरीतैश्च राजेन्द्र
कारणैर्मानुषो भवेत्।
तिर्यग्योनिस्तथा तात
विशेषश्चात्र वक्ष्यते॥
काम क्रोध समायुक्तो
हिंसा लोभ समन्वितः।
मनुष्यत्वात्परिश्रष्ट-
स्तिर्यग्योनौ प्रसूयते॥

Human beings get heavenly life after being purified through charity, non-violence etc. If the human being follows the opposite of these virtuous qualities, he is born as a beast. He who is full of lust and anger, who is fond of violence, killing animals and taking their meat for satisfaction of his beastly taste and having greed is pushed down from

the human status and gets birth among the beasts.

- (*Gems from Nahusha Gita**)

*Large serpent 'Nahush' tied fast Bhima the brother of Yudhishthira in a forest. When he was searched by his brother, the serpent challenged Yudhishthira with a host of questions to which he replies. Then Yudhishthira requests Nahusha to speak on Dharma and Nahusha's sermon on Dharma is called as " Nahusha Gita".



MALINI - Quarterly Magazine

Annual Subscription : Rs. 80.00

Price Per Copy : Rs. 20.00

Overseas Subscription : US\$25.00

*All correspondence & subscription
must be sent to the Administrative Office :*

Ishwar Ashram Bhawan

2-Mohinder Nagar

Canal Road

Jammu Tawi - 180 002.

Phone : 555755, 553179

*Information regarding printing & publishing etc.
can be had from*

Branch Office

F-115, Sarita Vihar, New Delhi - 110 044.

Phone : 6943307

HYMNS ON WORSHIP OF SUPREME SELF.

By Ādiguru

Translated by Dr. Neelima

According to the rules of ritualistic worship there are manifold acts to be performed to desired deities (अभीष्टदेव) at the time of worshipping.

For example :- आवाहन (invite) then, पाद्य (washing of lotus feet) अर्घ्य (washing of hands and face) आचमन (washing of face with crystal clear water) मन्त्रस्नान (to remove the shabbiness of offered special herbs etc.) स्नान (ablution) आसन (the seat) वस्त्र (clothing) यज्ञोपवीत (the sacred thread) गन्ध (Tilak or sandal mark) पुष्प (flowers) अलंकार (decoration) धूप (incense) दीप (offering of lights) चामर (fan) आदर्श (mirror) ताम्बूल (beetle offering) परिक्रमा (circumambulation) नैवेद्य (sacred offerings) नीराजन (waving of camphor etc.) and स्तोत्र स्तुतिः (recitation of selected prayers) and अच्छिद्र (completion of worship).

All these things are not possible to be performed by a common aspirant. So it has been advised in the following verses, that the Supreme Self should be understood, because the ritualistic worship is cumbersome process in the search of the Supreme Self. The hymns are as follows: -

अखण्डे सच्चिदानन्दे निर्विकल्पैकरूपिणि।

स्थितेऽद्वितीयभावेऽस्मिन् कथं पूजाविधीयते॥

अखण्डे-without parts, सच्चिदानन्दे-existence knowledge and bliss absolute, निर्विकल्प-without change, एकरूपिणि-always in one form स्थितेऽद्वितीयभावे-established in non-duality अस्मिन्-in this, कथं-how can पूजा-worship, विधीयते-be done.

Who is without parts who is sat, cit and Ananda absolute, without change, always in one form established in non-duality, how can worship be performed of that being.

पूर्णस्याऽऽवाहनं कुत्र सर्वाधारस्य चाऽऽसनम्।

स्वच्छस्य पाद्यमर्घ्यं च शुद्धस्याचमनं कुतः।

पूर्णस्य-all full, आवाहनं-invite, कुत्र-where, सर्वाधारस्य-the support of all,

च-and, आसनं-the seat, स्वच्छस्य-transparent, पाद्यं-washing of lotus feet, अर्घ्यं-libation; च-and शुद्धस्य-ever pure, आचमनं-taking water for purification, कुतः-where from.

Who is all full, how can one invite him ? Who is the Support of all, which seat is to be offered to him ? How it is possible to offer अर्घ्य (Arghya) पाद्य (Pādyā) and आचमन (Ācamana) to him who is transparent and everpure?

निर्मलस्य कुतः स्नानं वस्त्रं विश्वोदरस्य च।

अगोत्रस्य त्ववर्णस्य कुतस्तस्योपवीतकम्॥

निर्मलस्य-who is all clear, कुतः -no need of, स्नानं-ablution, वस्त्रं-clothing विश्वोदरस्य-bearing the universe in himself, च-and, अगोत्रस्य-without lineage, तु-certainly, अवर्णस्य-without caste, कुतः -needless, तस्य-to him उपवीतकं-the sacred thread.

Who is crystal clear, there is no need of bath for him. Who has the whole universe inside what is the fun of clothing for him ? Where is the need for the sacred thread to Him who is bereft of creed and caste ?

निर्लेपस्य कुतोगन्धः पुष्पं निर्वासनस्य च।

निर्विशेषस्य का भूषा कोऽलंकारो निराकृतेः॥

निर्लेपस्य-who is detached, कुतः -needless, गन्धः-vermilion or sandal mark, च-and, पुष्पं-flowers, निर्वासनस्य-who is without desires, निर्विशेषस्य-without distinction, का-what, भूषा-decorations, कः -no need of, अलंकारः -ornaments, निराकृतेः-who is formless.

What is the use of putting sacred marks on Him who is detached ? What is the use of offering flowers to Him who is desireless ? How can one dress Him who is devoid of form ? Decorations have no purpose for him who is without distinction.

निरंजनस्य किं धूपैर्दीपैर्वा सर्व साक्षिणः।

निजानन्दैक तृप्तस्य नैवेद्यं किं भवेदिह॥

निरंजनस्य- devoid of Māyā, किं- What use, is धूपैः- serving incenses दीपैः-offering lights, वा-or, सर्वसाक्षिणः -who is a witness to all, निजानन्द-in his own

bliss, एकतृप्तस्य-ever contented, नैवेद्यं-sacred offerings. किं-what, भवेत्- can be offered to Him.

Serving perfumes and incenses to one who is bereft of Māyā, is useless, offering lights to one is purposeless who is a witness to all. What sacred offerings can be offered to him Who is ever contented in his own bliss.

विश्वानन्दयितुस्तस्य किं ताम्बूलं प्रकल्प्यते।

स्वयं प्रकाश चिद्रूपो योऽसावर्कादिभासकः॥

विश्वानन्दयितुः -bestower of bliss to all people, तस्य-to him, किं-what ताम्बूलं-beetls etc, प्रकल्प्यते-can be offered, स्वयं प्रकाशः -who is self luminous, चिद्रूपः -who is mass of consciousness, योऽसौ-who is, अर्कादि-sun etc, भासकः -brilliance giver.

What ताम्बूल can be offered to Him who is bestower of bliss to all, who is self luminous, full of consciousness and giver of light to the sun etc.

प्रदक्षिणा ह्यनन्तस्य ह्यद्वयस्य कुतो नतिः।

वेदवाक्यैरवेद्यस्य कुतः स्तोत्रं विधीयते॥

प्रदक्षिणा-circumambulation, हि-certainly, अनन्तस्य-who is endless, अद्वयस्य हि-who is without duality, कुतः -how, नतिः -salutation, वेदवाक्यैः- by hymns of the four Vedas, अवेद्यस्य-undescribable, कुतः -how, स्तोत्रं- praises are, विधीयते-to be done

How can an endless be circumambulated ? How can salutation is possible to him, who is without duality ? How can praises are to be sung of him who is undescribable even by the four Vedas themselves.

स्वयं प्रकाशमानस्य कुतो नीराजनं विभोः।

अन्तर्बहिश्च पूर्णस्य कथमुद्गासनं भवेत्॥

स्वयं-self, प्रकाशमानस्य-effulgent, कुतः -how, नीराजनं-waving of lights etc. (before an idol as an act of adoration) विभोः -of mighty lord, अन्तः -inside, बहिः -out side, च-and, पूर्णस्य-full, कथं-how, उद्गासनं-replacing to original seat.

How can waving of lights etc. are possible to that mighty lord, who

is self effulgent ? How one can dare to replace Him to His original seat who is all full inside and outside.

एवमेव परा पूजा सर्वावस्थासु सर्वदा ।

एक बुद्ध्या तु देवेशे विधेया ब्रह्मवित्तमैः ॥

एवमेव-in this way, परापूजा-worship of Supreme Self, सर्वावस्थासु-in all states, सर्वदा-always, एकबुद्ध्या-with one pointedness, विधेया-should be done, ब्रह्मवित्तमैः -by all seekers of Brahman-the all pervading soul and spirit of the universe.

This way, the worship of Supreme Self should be done always in all states by the seekers of Brahman, with one pointedness and awareness.



यह मेरी सलाह है कि अधिक नहीं खाना चाहिये । कम भोजन करके अपने पेट को कुछ खाली रखना चाहिए । ऐसा करने से आप अपने शरीर को स्वस्थ अपने दिमाग को सर्वगामी और सावधान रख सकते हैं । अन्यथा आप अनाज से पूर्ण थैली की तरह स्थूलाकार बनोगे । आप अपना समय जंभाइयो और ऊँघने में ही नष्ट करोगे । जब आपका शरीर इस स्थिति में होगा तो आप एकाग्रता की उचित शक्ति को या अभ्यास के कार्य को खो बैठोगे ।

—ईश्वरस्वरूप स्वामी लक्ष्मण जू महाराज



ईश्वराश्रम, निशात-श्रीनगर के आश्रम परिसर में दैवी निर्देशानुसार साकार बना पर-धैरव धाम
(A THRONE OF BHAGWAN BHAIRAVA)

Courtesy : Sh. Vijay Dhar, U.S.A.

DIVINE THOUGHTS

A LUSTFUL man becomes shameless. A greedy man loses his courage. An angry man loses his health. Therefore, destroy lust, greed and anger.

As long as lust smells sweet to your nostrils, you cannot entertain sublime, divine thoughts in your mind.

Give up stimulating dishes and all unhealthy literature, and conversation and associations that are likely to stimulate sexual desire.

Do not look at the opposite sex with an evil eye. If you are a male you can look at a woman with the following attitudes: if she is old, treat her as your mother; if she is young, as your sister; and if she is very young, as your child.

Lewdness or licentiousness is a very sure way to destruction or death. Be pure. Be chaste. Slay this licentiousness, the dire enemy of man.

Lust is the greatest enemy on earth. It devours a man. A great deal of depression follows the sexual act. You have to exert a lot in earning money to please your wife and satisfy her wants and luxuries. You commit various sorts of sins in acquiring money. You mentally share her pains and sorrows, and the pains and miseries of your children as well. You have to worry in a thousand and one ways in running the family. As two minds cannot always agree, there are always quarrels in the house. You have to unnecessarily multiply your wants and responsibilities. Your Buddhi gets spoiled. Become an Akhanda Brahmachari and free yourself from all miseries, worries and troubles.

The fly runs towards the fire or lamp, thinking that it is flower, and gets burnt up. Even so, the weak, passionate man runs towards a false beautiful form, thinking that he can get real happiness, and himself gets burnt in the fire of lust.

Man has degraded himself to a great degree by becoming a puppet of passion. Alas! He has become an imitative machine. He has completely lost his power of discrimination. He has sunk into the most abject form of slavery. What a sad state! What a lamentable plight indeed! If he wishes to regain his lost divine state and Brahmic glory, his whole being must be

transformed, his sex-desire must be entirely transmuted by entertaining sublime thoughts and practice of regular meditation.

You have to carefully search for this dire enemy-lust-that lies hidden in the various corners of your heart. Just as the fox hides itself within the bush, so also lust hides in the substratum and corners of the mind. You can detect its presence only if you are vigilant. Intense self-examination is very necessary. Anger is nothing but a modification of lust. If passion is not gratified one is sure to become indignant and furious. When a lustful man gets furious, infatuated or full of delusion, confusion of memory and loss of reason follow in their wake and he perishes. When a man is furious nothing in the world can stop his anger. He speaks harsh words and does anything. He becomes uncontrollable. The fight begins with a few hot words and ends with blows, stabbing, free fights and murder.

As is said in Shrimad Bhagvad Gita:-

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूप जायते।

सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।

क्रोधात्भवति संमोहः संमोहात्स्मृति विभ्रमः।

स्मृति भ्रंशात् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥

You must not labour under the delusion that you have eradicated lust completely by adjusting your way of life a little, by practising some meditation and fasts. You might be tempted at any moment if you are careless and proud of your spiritual achievements and if you think that you have overcome lust. Great vigilance and intense Sadhana are necessary if you wish to have perfect success. Many aspirants fall hopelessly when they are tempted. This is due to carelessness and lack of rigorous spiritual practice. Therefore, strive hard with great earnestness and sincerity and with a heart turned exclusively to the Divine. It is divine Grace alone that can protect and sustain you.

Bhartrihari says: "For food I have what begging brings, and that too tasteless and once a day; for bed, the earth, and for attendant, the body itself. For dress I have an old worn-out blanket made up of a hundred patches; still alas! lust does not leave me."



विज्ञानभैरव—समीक्षात्मक अध्ययन

मूल प्रवचनकार—

शैवाचार्य ईश्वरस्वरूप स्वामी लक्ष्मण जू महाराज

(गतांक से आगे)

तन्त्रादिवाद्यशब्देषु दीर्घेषु क्रमसंस्थितेः।

अनन्यचेताः प्रत्यन्ते परव्योमवपुर्भवेत् ॥ ४२ ॥

अन्वय - तन्त्रादिवाद्यशब्देषु क्रमसंस्थितेः दीर्घेषु (सत्सु) (यः) अनन्यचेताः (स) प्रत्यन्ते परव्योमवपुः भवेत् ॥ ४२ ॥

जो साधक, तन्त्री आदि तन्तुवाद्यों से पैदा हुए क्रमिक स्वरों के लय, सम, ताल आदि, जो दीर्घकाल तक अवस्थित रहते हैं, मैं मन लगाकर चित्तवृत्ति को लीन कर देता है, वह परमाकाश शरीर हो जाता है, अर्थात् परब्रह्मदशा में समाविष्ट हो जाता है।

तन्त्री— वाद्य संगीत के यन्त्रों को तन्त्री कहते हैं। 'तन्त्र्यादि' से सारे तन्तुवाद्यों को लिया जाता है। 'वाद्य' से संगीत के वाद्ययन्त्र अभिप्रेत है। 'शब्देषु' का तात्पर्य विभिन्न मूर्च्छनात्मक स्वर हैं। उदाहरण के तौर पर 'सितार' में अलग-अलग शब्द हैं पर जब आप ध्वनि की गहराई में जायेंगे तो आप को इस बात का ज्ञान होगा कि एक ही ध्वनि सामूहिक रूप से इस वाद्ययन्त्र से प्रकट होती है।

स्वामी जी से एक शिष्य के यह प्रश्न पूछने पर कि क्या 'ध्वनि' के साथ यह परता प्रत्येक व्यक्ति को होती है। तो स्वामी जी समझाते हैं कि यह परता उसी साधक को होती है जो समाहित चित्त हो।

दीर्घेषु— सामूहिक ध्वनि को दीर्घ कहते हैं जो विना क्रमिकता के आधार पर दीर्घ काल तक अवस्थित रहती है।

क्रमसंस्थितेः — क्योंकि बजाने वाला अपनी अंगुलियों को क्रमशः इन तन्त्रियों पर रखता है अतः ये तन्त्रियां क्रमिकता के आधार पर बजायी जाती हैं।

अनन्यचेताः — जो एकाग्र हो, जो उस सामूहिक ध्वनि पर मन लगाकर रहे।

पर व्योम वपुर्भवेत्— परमाकाश शरीर हो जाता है। यह शाक्तोपाय है, जो शाम्भवोपाय

को छूता है। यह निरा शाम्भवोपाय ही होता, पर आदि में यह शाक्तोपाय को छूता है अतः यह शाक्तोपाय है क्योंकि यहां एकाग्रता को अपनाना है। पहले उन विभिन्न स्वरों पर ध्यान देना है फिर उन स्वरों से उद्भूत सामूहिक ध्वनि पर। जहां तक साधक विभिन्न स्वरों से प्रकट बने सामूहिक ध्वनि की ओर एकाग्रचित्त है वह शाक्तोपाय है। जब साधक सामूहिक ध्वनि में पहिले ही लीन होता है तो वह शाम्भवोपाय है। शाम्भवोपाय निमीलनावस्था है। फिर क्रममुद्रा का उदय होगा और साधक उन्मीलन समाधि में समाविष्ट होगा जो कि निरा शाम्भवोपाय है।

अगली कारिका में आणवोपाय से शाम्भवोपाय की ओर जाने की प्रक्रिया का वर्णन है :-

पिण्डमन्त्रस्य सर्वस्य स्थूलवर्णक्रमेण तु।

अर्धेन्दु बिन्दुनादान्तः शून्योच्चरात् भवेत् शिवः॥ ४२॥

अन्वय- स्थूल वर्ण क्रमेण (उपलक्षितस्य) पिण्डमन्त्रस्य सर्वस्य अर्धेन्दु बिन्दु नादान्तः शून्योच्चारात् शिवः भवेत्॥ ४२॥

सभी पिण्डमन्त्रों के स्थूल वर्णों का क्रम से उच्चारण कर लेने के बाद बिन्दु, अर्धचन्द्र, नादान्त आदि सूक्ष्म से सूक्ष्मतर मात्रा में बदलते जा रहे सूक्ष्मवर्णों के उच्चारण का शून्य अवस्था तक अनुसन्धान करने पर साधक स्वयं शिव बन जाता है॥

पिण्डमन्त्र- ह, स, र, क्ष, म, ल, व, य, नुं, र, क्ष, क्लीं, सौः” ये सारे एक साथ रखे वर्ण पिण्डमन्त्र कहे जाते हैं।

पहिले इन वर्णों के उच्चारण का क्रम स्थूलदशा कहा जाता है। फिर उस स्थूलदशा क्रम को सूक्ष्म और सूक्ष्मतर रूप में लेना चाहिए। उदाहरण के तौर पर पहिले ऊँकार का ही उच्चारण क्रम ले। जब हम ऊँकार का उच्चारण करते हैं तो यह वास्तव में पिण्डमन्त्र का ही उच्चारण है। यद्यपि ‘ऊँ’ को पिण्डमन्त्र नहीं माना जाता क्योंकि इसमें व्यञ्जनों के साथ स्वरों का भी समावेश है। जबकि पिण्डमन्त्र वे मन्त्र हैं जिनमें स्वरों का अभाव है। परन्तु शैवदर्शन की धारणा के अनुसार ‘ऊँ’ को भी पिण्डमन्त्र के अन्तर्गत माना जाता है। ‘सौः’ को पिण्ड मन्त्र माना जाता है। इसमें स+औः है। ‘अ’ ‘उ’ ‘म’ ऊँकार के उच्चार का स्थूल वर्ण क्रम है, और यह स्थूल दशा ‘म’ पर समाप्त होती है। ‘अर्धेन्दु बिन्दु नादान्तः’ के स्थान पर ‘बिन्दुर्धचन्द्र-नादान्तः’ सही पाठ स्वामी जी मानते हैं। ‘बिन्दु’ और ‘अर्ध चन्द्र’ ‘ऊँकार’ की सूक्ष्म दशा है। ‘नादान्तः’ से तात्पर्य निरोधिनी नाद, नादांत, शक्ति, व्यापिनी,

समना और उन्मना है। ये 'ऊंकार' की सूक्ष्मतम दशा है। फिर 'ऊंकार' का उच्चारण करते समय साधक उन्मना अवस्था में प्रवेश करता है। यह उन्मना अवस्था वह अवस्था है जहां साधक का मन एकाग्र होके विलीन होता है। या यूँ कहिये कि मन का व्यापार सर्वथा अवरुद्ध होता है।

यह प्रक्रिया आणवोपाय से शाम्भवोपाय की ओर जाने की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया शाम्भवोपाय की सूक्ष्मतम विधि है, क्योंकि शाम्भवोपाय तो सूक्ष्मतम प्रक्रिया है।

परमशिव अवस्था तक पहुँचने के लिए ऊंकार की इन मात्राओं को सीढ़ियाँ मानकर स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से सूक्ष्मतम दशा का साधक भागी बन जाता है।

यह एक क्रमिक प्रक्रिया है। स्थूल वर्ण क्रम ही क्रमिक प्रक्रिया का परिचायक है। यह स्थूल दशा के प्राप्त करने पर तत्काल फलीभूत होता है। "बिन्दु" और "अर्धचन्द्र" के पश्चात् तीसरी सूक्ष्मतम अवस्था का अनुभव होता है। यह समग्र-रूप से शाम्भवोपाय है। पर बिन्दु और अर्धचन्द्र के विषय में यह कहा जाता है कि ये न स्थूल दशा में आते हैं न सूक्ष्मतम दशा में। अपितु ये दो के बीच में एक कड़ी के रूप में हैं।

शून्योच्चारात्— शून्य-उन्मना के उच्चारण से। परन्तु शून्य अर्थात् उन्मना का उच्चार नहीं होता है अपितु इसका अनुभव होता है। उसी अनुभव के परिणामस्वरूप इसका उच्चारण होता है। हम वर्णों या शब्दों का उच्चारण कर सकते हैं पर शून्य का नहीं। यहां 'उच्चार' से महसूस करना अभिप्रेत है बोलना नहीं। इसी अनुभव के आधार पर साधक-

भवेत् शिवः — परम शिवभाव को प्राप्त करता है। परात्रिंशिका लघुवृत्ति में 'उच्चार' का अभिप्राय वह मस्ती है जो शाक्तोपाय के पश्चात् आती है। यहां भी 'उच्चार' उसी अर्थ के समकक्ष है। पर उस के समान नहीं। यह भी उसी अर्थ के समान बन जाता पर इस का सम्बन्ध आरम्भ में आणवोपाय से है अतः यह उसके तुल्यार्थवाचक नहीं। क्योंकि यहां अभी संक्रमण स्थिति है जबकि परात्रिंशिका लघुवृत्ति में वर्णित उच्चार की यह स्थिति नहीं।

यहां उच्चार से 'समना दशा' की प्राप्ति तक का संकेत है, उसके पश्चात् 'उन्मना' की अनुभूति होती है। पर 'उन्मना' दशा नहीं। उन्मना के पश्चात् शिवभाव में प्राप्ति होती है।

किसी व्याख्याकार ने शून्योच्चार का अर्थ प्लुतोच्चार किया है। पर स्वामी जी महाराज इस अर्थ से सहमत नहीं। क्योंकि 'उच्चार' अनुभूति है उस शून्य की। संस्कृत व्याकरण भी उच्चार सही अर्थ जताने में असमर्थ है। 'उच्चार' इन्द्रिय ग्राह्य नहीं। यह उस "ऋतम्भरा प्रज्ञा" का विषय है जिसका उल्लेख पतञ्जलि मुनि ने "योगसूत्र" में किया है। यह 'प्रज्ञा' केवल

सत्यरूपा है, सत्य के सिवा कुछ नहीं॥

आणवोपाय विधि से शाम्भवोपाय तक जाने की विधि की दूसरी धारणा अधोलिखित कारिका में दुहराई गई है—

निजदेहं सर्वदिक्कं युगपद् भावयेद् वियत्।

निर्विकल्पमनास्तस्य वियत् सर्वं प्रवर्तते॥

अन्वय - निर्विकल्पमनास्तस्य सर्वदिक्कं वियत् युगपद् भावयेत्। (ततः) तस्य सर्वं वियत् प्रवर्तते॥

साधक संकल्प विकल्पहीन मनवाला होकर अपने शरीर में पूर्व, दक्षिण, उत्तर, पश्चिम सभी दिशाओं में व्याप्त शून्य की, एक साथ विना क्रम के, भावना करे। इस प्रकार से सारे पदार्थों में उस की शून्यता की भावना दृढ़ होती जाती है और अन्त में परम शून्य में अथवा परमाकाश में समाविष्ट हो जाता है अर्थात् उस का प्रकाशमय सत्स्वरूप प्रकट हो उठता है।

स्वामी जी महाराज कहते हैं कि किसी एक ढंग में आसन जमावे, अपनी आंखें मूंद लो और यह अनुभव करो कि आपके दाहिने ओर, बायीं ओर, आगे या पीछे कुछ भी नहीं है यह केवल कल्पना करनी है कि मेरे शरीर के इर्द गिर्द कुछ भी नहीं है, केवल शून्यता ही चारों ओर है।

युगपत् — एक साथ चारों ओर साधक

भावयेत् — शून्यता की भावना करे।

निर्विकल्पमनाः — समस्त संकल्पों से मुक्त होके, मन को सारे विकल्पों से अछूता रखके। किसी भी संकल्प को मन में उठने का प्रयास न करे और यह अनुभव करे कि आपके शरीर के चारों ओर से शून्यता के सिवा कुछ भी नहीं। यह शून्यता की भावना हमें आरम्भ में अपनानी है। इसी लिए इस धारणा में आणवोपाय विधि का स्पर्श है। इसी के परिणाम स्वरूप पहिले-पहिले इस धारणा में देह स्थिति का आभास होता है और यह महसूस होता है कि आगे-पीछे, दायें-बायें, ऊपर-नीचे मेरी शरीर सत्ता है। इसके पश्चात् जब निर्विकल्प दशा उभरने लगती है तो वह शून्यता भी विलुप्त होने लगती है अथवा वह शून्यता स्थूलता का चारों ओर से विनाश करती है। यहां तक कि साधक को अपने शरीर के अस्तित्व का भी ज्ञान मिट जाता है।

वियत् सर्वं प्रवर्तते — ऐसे साधक का सब कुछ शून्य से ओत प्रोत दिखता है। केवल शून्य ही शून्य। जो कुछ शून्य है वह परमशिव है। अभाव ही शिव है क्योंकि शिव न वह है न यह है, वह असद् में सद् है। वह जो कुछ है वह अविचारणीय है, अवर्णनीय है। वह अनुभूति से परे है। वह अनुभव गम्य नहीं है। वह कल्पनातीत है। वह ज्ञेय पद से ग्राह्य नहीं। वह विचारणीय नहीं है। वह कुछ भी नहीं है। वह महागुह्य है। वह प्रलयाकल अवस्था से भी परे है। वह शून्यातिशून्य है।

उपरोक्त प्रक्रिया निमीलन समाधि का ही परिणाम निमीलन दशा की चरम सीमा है। अर्थात् जब निमीलन समाधि की परिपक्वावस्था आती है तो उन्मीलन समाधि का उदय होता है॥

(क्रमशः)



तंत्रालोक में अज्ञान का स्वरूप

— निधि टण्डन

आचार्य अभिनवगुप्तकृत तंत्रालोक का कश्मीर शिवाद्वयवादी सम्प्रदाय के उद्बिकास में विशिष्ट स्थान है। इस ग्रंथ की रचना का उद्देश्य अनुत्तरत्रिकसम्प्रदाय के प्रक्रिया ग्रंथ की रचना करना है। इसी दृष्टि से १० भेदरूप+१८ भेदाभेद रूप+६४ अभेदरूप तन्त्रों के सार को प्रस्तुत करने वाले मालिनीविजयोत्तरतंत्र को आधार बनाकर इस ग्रंथ की रचना की गयी है। मालिनीविजयोत्तरतंत्र का मुख्य उद्देश्य है हेय व उपादेय का विवेचन। इसी हेय को जगदानन्द के विपक्ष रूप में कल्पित कर उसके क्षपण की सामर्थ्य से युक्त परमेशमुखोद्भूत ज्ञानरश्मियों के जयगान से यह तंत्र प्रारम्भ होता है। आगे यह तंत्र उपादेय के विवेचन में शिव, शक्ति, सविद्येश, मंत्र, मंत्रेश्वर और अणु इन छः तत्त्वों की गणना करता है और हेय के अंतर्गत मल, कर्म, आणव व मायीय जगत को रखता है। इस तंत्र की दृष्टि में हेय व उपादेय के तत्त्व को जाननेवाले को ही सर्वसिद्धियां प्राप्त होती हैं।

मालिनीविजयोत्तरतंत्र को ही आधार बनाकर प्रस्तुत यह तंत्रालोक ग्रंथ भी हेय व उपादेय के विवेचन को ही अपना आधार भूत प्रयोजन बनाता है। इस ग्रंथ का महाप्रयोजन है भैरवीभाव की प्राप्ति। इसके अतिरिक्त सैंतीसवें आह्निक में अभिनवगुप्त अनायास जीवन्मुक्ति और यथेप्सित महाभोग की प्राप्ति को भी इस शास्त्र की उपादेयता का आधार मानते हैं।

अज्ञान का प्रत्यय इसी हेय व उपादेय के विवेचन के मूल में स्थित है। एक ओर तो हेय व उपादेय के स्वरूप को भलीभांति न समझना ही अज्ञान है दूसरी ओर इस हेय व उपादेय के मूल स्रोत रूप में भी यही अज्ञान है। इस प्रकार से अज्ञान की धारणा यहां दो स्तरों पर सक्रिय दिखलाई पड़ती है। प्रथम तो उस पारतात्त्विक सामर्थ्य के रूप में, जिसके द्वारा वह एक से अनेक में परिणत होता है, वह इस सारे हेय और उपादेय रूप मायिक जगत् को शासित करता है। द्वितीय, उस सीमित प्रमाता की भेदबुद्धि के पर्याय रूप में, वह अपने स्वातन्त्र्यमय स्वभाव को विस्मृत कर अपने सीमाबद्ध रूप को ही सच मान लेता है।

आचार्य अभिनवगुप्त तंत्रालोक का प्रारम्भ इसी अज्ञान की धारणा के विवेचन से करते हैं। वह सबसे पहले समस्त शास्त्रों के मूल विवेच्य रूप में अज्ञान व मोक्ष की धारणाओं को प्रस्तुत करते हैं और बताते हैं कि इन सभी शास्त्रों की दृष्टि में अज्ञान ही संसृति का

कारण है। संसृति है संसरणशील संसार। इस संसार से मोक्ष का कारण है ज्ञान।

मालिनीविजयोत्तरतंत्र भी कुछ ऐसा ही मत व्यक्त करता है जिसे अभिनवगुप्त प्रस्तुत करते हैं। पर यह अन्य शास्त्रों से कुछ विशिष्ट है। यहाँ इस अज्ञान के लिये मल संज्ञा का प्रयोग है। यह अज्ञान दो प्रकार का है—क्रियात्मक स्वातन्त्र्य की हानि रूप और उस स्वातन्त्र्य के ज्ञान की भी हानिरूप।

इन द्विविध रूपों से अज्ञान परमेश्वर स्वरूप का गोपन (आवरण) करता है फलतः उसे आत्म तत्त्व का अनात्मतया ज्ञान होता है यह स्थिति है अपूर्ण ज्ञान की। इस आत्मतत्त्व के अनात्मतया दर्शन से भेदबुद्धि का उदय होता है। इस प्रकार अज्ञान विविध मलों की धारणा को प्रस्तुत करता है। इन तीन मलों की यहाँ पारिभाषिक संज्ञायें हैं—आणवमल, मायीयमल, कर्ममल। मालिनीविजयवार्तिक में अभिनवगुप्त कहते हैं कि मल-कल्पना ही परमेश्वर की स्वरूपगोपन की क्रीडा है।”

इस अज्ञान की धारणा के भी मूल में स्वातन्त्र्य की धारणा है। यह स्वातन्त्र्य परमेश्वर का स्वभाव है जो कि उसको कर्तुं, अकर्तुं, अन्यथाकर्तुं सभी प्रकार का सामर्थ्य देता है—अतः वह पांच प्रकार से अपने स्वातन्त्र्य का प्रकाशन करता है। वे पांच यहाँ पंचकृत्य कहलाते हैं जो इस प्रकार हैं सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह। इनमें किसी क्रम की कल्पना संभव नहीं है क्योंकि परमेश्वर तो सभी दैशिक, कालिक क्रमों से उत्तीर्ण है पर बुद्धि को तार्किक सीमाओं में बंधकर विश्लेषण की प्रवृत्ति के कारण हम तिरोधान को सबसे पहले रख सकते हैं। अज्ञान की धारणा इसी तिरोधान की धारणा में निहित है।

अज्ञान शब्द की व्याख्या इस सम्प्रदाय में विशेष प्रकार से की गयी है। जहाँ अन्य सम्प्रदाय अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव मानते हैं वहीं यह सम्प्रदाय ‘अ’ को अभाव अर्थ में न लेकर ‘ईषद्’ अर्थ में लेता है। अभिनवगुप्त इस संदर्भ में यह विशेष प्रसंग उठाकर कि अन्य शास्त्र अज्ञान को संसृति का कारण मानते हैं, यह स्पष्ट करते हैं कि अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं हो सकता क्योंकि मिट्टी का ढेला (लोष्ट) भी ज्ञानशून्य है पर उसका संसरण नहीं होता। अतः इस अतिप्रसंग दोष से बचने के लिये आवश्यक है कि अज्ञान का अर्थ अपूर्ण ज्ञान माना जाये। वे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि ज्ञेय तत्त्व को सामस्त्य भाव से न प्रकाशित करने वाला ज्ञान ही अज्ञान है।” ऐसा ही शिवसूत्रों में भी कहा गया है। शिवसूत्र हैं ‘चैतन्यमात्मा’ व ‘ज्ञानं बन्धः’। इनमें अकार के प्रश्लेष व विश्लेष से दो अर्थ निकालते हैं ज्ञानं बन्धः तथा अज्ञानं बन्धः।” यहाँ यह स्पष्ट है कि अपूर्ण ज्ञान ही अज्ञान शब्द का अभिप्राय है। इन दो सूत्रों के द्वारा यह भी सांकेतिक होता है कि ज्ञान/अज्ञान द्वैत

बुद्धि का ही पर्याय है। उस आत्मतत्त्व का चैतन्यस्वरूप पूर्णज्ञान-क्रियामयरूप को प्रस्तुत करता है परंतु दूसरे सूत्र में ज्ञान का अतिरिक्ततया कथन यहां द्वैतप्रथा का आसूत्रण करता है।

इस तरह अज्ञान का वाच्य है संविद् के पूर्ण अद्वैत रूप का अख्यान, यही है द्वैत प्रथा। यही अपूर्णम्मन्यता-शुभाशुभवासना-शरीरभुवनाकारस्वभाव रूप विविध प्रकार से संकुचित ज्ञान विविध मलों के रूप में भासित होता है। दार्शनिक शब्दावली में इसे बन्ध भी कह सकते हैं। इस प्रकार अज्ञान की विविध संज्ञायें हैं कहीं यह अख्याति, कहीं यह द्वैतप्रथा, कहीं यह बन्ध व कहीं यह मल कथित हैं।

अज्ञान के साथ ही साथ इस सम्प्रदाय में मोक्ष का स्वरूप भी विशिष्ट है क्योंकि यहां एक स्वतन्त्र आत्मतत्त्व के अतिरिक्त तुच्छ-अतुच्छ कुछ नहीं है जिससे मोक्ष की बात की जाये अतः जो आत्मा का स्वरूप है वही यहां मोक्ष है, स्वतन्त्र, पूर्ण स्वरूप की यथार्थ प्रतीति ही मोक्ष है।” विवेककार जयरथ मालिनीविजयोत्तरतंत्र का उद्धरण देते हुये कहते हैं कि “स्वरूप-प्रथन के अतिरिक्त कोई मोक्ष नहीं होता, आत्मा संविद् रूप ही है।” ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी में कहा गया है कि जो कुछ है वह सब परमेश्वर का ही स्वातन्त्र्य विलास है और परमार्थतः परमेश्वर से अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं।

तंत्रालोक के विवेककार जयरथ संक्षेप में मोक्ष के संबंध में अन्य दार्शनिक दृष्टियों को भी प्रस्तुत करते हैं। यहां ‘मैं, रागादि से मुक्त हो रहा हूं’ यह आकलन योगाचार मतवादियों का है। उनके अनुसार चित्त स्वभावतः ज्योतिर्मय होता है पर अनादि अविद्या के प्रभाव से रागादि आगन्तुक मलों से यह आवृत्त हो जाता है जिसके फलस्वरूप संसार उत्पन्न होता है। भावना मार्ग से जब ये मल नष्ट हो जाते हैं और चित्त मलों के नाशोपरान्त शुद्ध हो जाता है तब इसमें ज्योति की अभिव्यक्ति हो जाती है। यह अभिव्यक्ति ही इस मत में मोक्ष कहलाती है। पर, यहां यह शंका होती है कि प्रतिक्षण क्षीण होने वाले, क्षय को प्राप्त चित्त-क्षणों के आधान में भावना कैसे समर्थ होगी ? मलयुक्त चित्तक्षण अपने समान मलयुक्त चित्तक्षण ही उत्पन्न कर सकते हैं प्रभास्वर क्षण नहीं।

‘मैं, शून्य हूं’ माध्यमिकों के मत में यही ज्ञान है। स्वभाव के द्वारा निःस्वभावता की उपलब्धि के सिद्धान्त को मानने वाले माध्यमिक संविद्-शक्ति में भी निःस्वभावता की बात करते हैं और इसी कारण संविद् में मिथ्यात्व का आरोप कर उसी शून्य में मोक्ष मानते हैं यहां यह प्रश्न होता है कि यदि संविद् को मिथ्या मान लिया जायेगा तो अस्तित्व कैसे संभव होगा। सांख्यवादियों के अनुसार ‘मैं, अकर्ता हूं’ यह ज्ञान है। यहां सुख-दुखादि द्वन्द्वों से

रहित पुरुष का ज्ञान ही मोक्ष है। वे आत्मा को निष्क्रिय मानते हैं परन्तु यह उचित नहीं है क्योंकि यदि पुरुष को निष्क्रिय मानेंगे तो पुरुष को विवेकख्याति होने पर भी उसकी 'स्व' रूप में स्थिति स्थिर नहीं हो पायेगी। प्रकृति द्वारा ऐसा अनुभव कि 'मैं, इसके द्वारा देख ली गयी' भी संभव नहीं हो सकता क्योंकि प्रकृति जड है और जड वस्तु में अनुभवक्रिया नहीं हो सकती।

योगमतावलम्बी भी सांख्यमतवादियों की भांति प्रकृति से पृथक् पुरुष के ज्ञान को अपना लक्ष्य मानते हैं। ये ईश्वर-प्रणिधान को स्वीकार करते हैं। योगशास्त्र में २६वां तत्त्व परम पद का स्तर है और इस कारण ही वे सांख्यवादियों से उत्कृष्ट हैं।

मौसुल और कारुक मतावलम्बियों के अनुसार मायातत्त्व ही ज्ञान का स्तर है और पाशुपत ईश्वर को ही परम पद मानते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि बौद्ध और इनके समकक्ष विचार वालों का ज्ञान धीरे-धीरे मायीय मल से मुक्त करता है, मौसुल मतवादियों का ज्ञान उन्हें कर्ममल से मुक्त करता है और पाशुपतानुयायियों का ज्ञान उन्हें आणवमल से मुक्त करता है।

यहां यह प्रश्न उठता है कि अन्य दर्शनों के उपासकों के बन्ध शिथिल हो जाने पर भी उनकी मुक्ति क्यों नहीं संभव हो पाती इसके उत्तर में अभिनवगुप्त कहते हैं कि एक अवच्छेद से मुक्त हो जाने पर भी अन्य अवच्छेद वहां बने रहते हैं इसलिये वे अमुक्त रह जाते हैं। वस्तुतः मुक्त उसी को कहते हैं जो कि समस्त अवच्छेदों से मुक्त हो गया हो। अवच्छेद विभिन्न अध्वावर्ग में आने वाले आणवादि मलों को पुष्ट करने वाले वे आकर्षण हैं जिनसे प्रभावित होकर ही विराट् परमशिव अणुरूप हो जाते हैं। देश, काल और छः अध्वा-वर्ण, कला, पद, तत्त्व, मन्त्र और भुवन अवच्छेदक हैं।

काश्मीर शैवमतानुयायी मानते हैं कि बौद्धों का स्तर बुद्धि तत्त्व में ही समाप्त होता है परिणामतः बुद्धि तत्त्व के नीचे के तत्त्वों से तो मुक्ति हो जाती है पर बुद्धि के ऊपर परमशिव तक के तत्त्वों की दृष्टि में वे अमुक्त ही रहते हैं। सांख्यवादियों का स्तर बुद्धितत्त्व से ऊपर पुरुषतत्त्व तक का है। योगवादियों का स्तर पुरुष से उच्च नियतितत्त्व तक का है। इन सभी मतों में अवच्छेदों का पूर्ण नाश नहीं होता है इसी कारण इनके अनुयायी पूर्ण रूप से मुक्त नहीं हो जाते हैं। इसी तथ्य को जयरथ उद्धरण देकर पुष्ट करते हुए कहते हैं कि मुक्त को प्रतिबन्ध के कारण ईश्वर पुनः बन्धनग्रस्त करते हैं। पुरुष को संसार में तब तक रहना पड़ेगा जब तक साधना के बल पर उसे स्वात्मसंविद् रूप चिदैक्यभाव प्राप्त नहीं होता।

सभी मतों की संक्षेप में प्रस्तुति के उपरांत अभिनवगुप्त अपने मत में ज्ञान और मोक्ष

की स्थिति बताते हुए कहते हैं कि अवच्छेदों से सर्वथा रहित ज्ञेय का ज्ञान ही सत्य अर्थों में मुक्ति देने वाला है। अज्ञान के द्वारा मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती। अवच्छेद पूर्णता को खण्डित करते हैं और संकुचित विचारों के जनक होते हैं। संकोच को बढ़ाने वाले समस्त सांसारिक परामर्श अवच्छेद हैं। ज्ञेय रूप पदार्थों में इस अवच्छेद-बुद्धि का पूर्ण अभाव हो जाये—यह परामर्श ही सच्चा ज्ञान है और यही ज्ञान वास्तविक मुक्ति देने में समर्थ है।

तंत्रालोक में अभिनवगुप्त कहते हैं कि ज्ञान व अज्ञान बौद्ध और पौंस्त्र प्रकार से द्विविध हैं पौरुष अज्ञान, बौद्ध अज्ञान; पौरुष ज्ञान बौद्ध ज्ञान। पुरुषसंबंधी अज्ञान को ही पौरुष अज्ञान कहा गया है। यह अज्ञान उसी शाश्वत और अखण्ड ज्ञानक्रिया से युक्त परमशिव से उत्पन्न होता है। परम शिव अपने स्वातन्त्र्य के कारण अपने सर्वज्ञातृत्व और पूर्णकर्तृत्व का अपहरण कर देते हैं और संकोच का आश्रय लेकर स्वयं अल्पज्ञत्व और किंचित्कर्तृत्व को अपना लेते हैं। इस प्रकार अख्याति रूप आणवमल का आविर्भाव हो जाता है। यह पौंस्त्र अज्ञान ही विराट् को अणु बनाता है, सार्वभौम सत्ता को सीमित कर देता है। यह अस्तित्वगत अज्ञान है।

बौद्ध अज्ञान बुद्धि को सीमित एवं भेदप्रधान बनाता है। ऐसा है, यह मैं जानता हूं, यह भी ज्ञान है परंतु इस ज्ञान में भेद दृष्टि की प्रधानता होने से वस्तुतः यह अज्ञान ही है। निश्चय ही अपूर्णता अथवा विपरीतता ही इसका स्वरूप है।

पशु संस्कार के क्षीण हो जाने पर और अपनी स्वाभाविक स्थिति प्राप्त हो जाने पर जो निर्विकल्पक स्वरूप प्राप्त होता है वही पौरुष ज्ञान है।

उस विकस्वर अविकल्पात्मक ज्ञान के आविर्भाव से जो भेद बुद्धि का लय होकर यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होता है वह बौद्ध ज्ञान है। बौद्ध अज्ञान और पौंस्त्र अज्ञान की भांति बौद्ध ज्ञान और पौंस्त्र ज्ञान में पोष्य-पोषक भाव है।

दीक्षा दान और क्षपण से युक्त वह क्रिया है जिसके द्वारा पशुवासना का क्षय होकर यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होती है। इस दीक्षा द्वारा ही पौरुष अज्ञान का नाश होता है परंतु स्फूर्त रूप से पौरुष ज्ञान का उदय देह नाश के उपरान्त ही होता है क्योंकि अभिनवगुप्त कहते हैं कि बौद्ध ज्ञान की प्राप्ति के उपरान्त जिस समय बौद्ध अज्ञान विलीन हो जाता है उसी समय साधक की मुक्ति हस्तामलकवत् हो जाती है।

पौरुष ज्ञान के उदय में बौद्ध ज्ञान की भूमिका भी अपेक्षित है। दीक्षा भी बौद्ध ज्ञान का उदय हो जाने पर ही मुक्ति प्रदान करती है इसलिये बौद्ध ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। बौद्ध ज्ञान के उदय हेतु शैव शास्त्रों का श्रवणादि आवश्यक है क्योंकि ये शास्त्र ही ज्ञेय

तत्त्व के प्रदर्शक हैं। परंतु दीक्षा के बिना इन शास्त्रों के श्रवणादि का भी अधिकार नहीं है। तब यह शंका होती है कि बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति की यहां क्या स्थिति है। इसके समाधान के लिये कहते हैं कि यदि पौरुष अज्ञान दीक्षा द्वारा निवृत्त हो भी गया हो तब भी बौद्ध अज्ञान की अगर निवृत्ति नहीं होगी तो विकल्प उत्पन्न हो सकते हैं। ये विकल्प भेदभाव के जनक होते हैं इनसे ही अज्ञान बढ़ता है।

यहां यह प्रश्न उठता है कि अगर बुद्धिगत अज्ञान निवृत्त न हुआ हो तो आत्मा को क्या अन्तर पड़ेगा। इसका उत्तर देते हुये कहते हैं कि यदि पौरुष अज्ञान निवृत्त हो चुका हो और बिना बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति के ही देहपात हो जाये तो मोक्ष असम्भव हो जायेगा। यदि यह कहें कि यूं तो देहसत्ता पर्यन्त ही बुद्धि में आत्मभाव रहता है देहत्याग के उपरांत नहीं इसलिये बौद्ध अज्ञान का आत्मा पर अंतर नहीं पड़ना चाहिये तो ऐसा उचित नहीं है क्योंकि दीक्षा लेने पर भी समय-प्रभाव से बुद्धि में आत्मा का संस्कार रहता है। दोनों में अभेदानुभूति के कारण बौद्ध अज्ञान आत्मा में बढ़ सकता है इसलिये देहपात के उपरांत बुद्धिगत आत्मभाव के समाप्त होने पर और पौरुष अज्ञान के दीक्षा द्वारा पहले ही निवृत्त हो जाने पर मोक्ष स्वयं सिद्ध हो जाता है।

शिव के महापरिवेश में अशिव कुछ नहीं है। शासन रोधन, पालन, पाचन, योग से वह सबको उपकृत करता है इसलिये वह पति, रक्षक और श्रेय साधक है। इस प्रकार से यह निश्चित हुआ कि अज्ञान संसृति में निमित्त है और ज्ञान मोक्ष में निमित्त है। स्वस्वरूपाख्याति ही अज्ञान है और संकुचित विचारों के जनक होते हैं। संकोच को बढ़ाने वाले समस्त सांसारिक परामर्श अवच्छेद हैं। ज्ञेय रूप पदार्थों में इस अवच्छेद-बुद्धि का पूर्ण अभाव हो जाये—यह परामर्श ही सच्चा ज्ञान है और यही ज्ञान वास्तविक मुक्ति देने में समर्थ है।

शक्तिपात तीन प्रकार का होता है : तीव्र, मध्य, मन्द। इनमें से प्रत्येक के पुनः तीन-तीन भेद कहे गये हैं।

तीव्र-तीव्र शक्तिपात से प्रारब्ध कर्मों सहित समस्त कर्मों का क्षय एक बार में हो जाता है। इसमें दीक्षा की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि यहां मात्र अनुग्रह ही पूर्ण होता है। मध्यतीव्र शक्तिपात में प्रारब्ध कर्मों का नहीं वरन् केवल अज्ञान का क्षय होता है और जिस ज्ञान से उस अज्ञान का नाश होता है वह स्वयं हृदय में प्रस्फुटित होता है। मध्यतीव्र शक्तिपात में स्वात्मा ही गुरु है जिसकी दीक्षा से प्रातिभज्ञानोदय होता है। मंदतीव्र शक्तिपात में मंदता होने के कारण गुरु व शास्त्र की अपेक्षा होती है।

तीव्रमध्य शक्तिपात में अतिरिक्त गुरु की अपेक्षा होती है पर यहां गुरु से प्राप्त दीक्षा सद्यः शिवप्रदा नहीं होती। गुरु बौद्ध ज्ञान देता है परंतु शिष्य में मालिन्य के कारण बोध तुरंत नहीं होता फलतः साधक को आणवोपाय का सहारा लेना पड़ता है मध्यमध्य शक्तिपात में साधक को स्वात्म-साक्षात्कार की उत्सुकता के साथ भोगेच्छा भी रहती है। अतः योगाभ्यास से साधक भोग का लाभ इस देह से करता हुआ देहपातानन्तर शिवता को प्राप्त कर लेता है मंदमध्य शक्तिपात में भी साधक स्वरूप साक्षात्कार हेतु प्रयासरत रहता है तथा भोग की इच्छा रखता है। तीव्र मध्य शक्तिपात पुत्रक-साधक विषयक तथा मध्य-मध्य शक्तिपात और मंदमध्य शक्तिपात शिवधर्मिणी-साधक विषयक हैं।

तीव्र मंद शक्तिपात का साधक दीक्षा के बल से देहपात के बाद अभीष्ट भुवन प्राप्त करता है फिर वहां भोग भोगकर शिवता की प्राप्ति करता है। मध्यमंद शक्तिपात वाला साधक भुवन में कुछ समय भोगों को भोगकर उसी लोक के ईश्वर से दीक्षा प्राप्त करता है और तब स्वरूप-प्रतिष्ठ होता है। मंदमंद शक्तिपात वाला साधक बहुत समय तक भोग करता है फिर दीक्षा-लाभपूर्वक शिवता प्राप्ति करता है।

अज्ञान के नाश तथा यथार्थ स्वरूप की प्राप्ति का साधन है उपाय। इन उपायों से उपेय की प्राप्ति होती है। कुछ को उपेय की प्राप्ति अनायास होती है और कुछ को सायास अर्थात् विशेष प्रयत्न से। इसका कारण शक्तिपात की मात्रा का भेद है। उपाय व समावेश दोनों ज्ञान रूप हैं। उपाय साधन रूप हैं, माध्यम हैं और समावेश उस उपाय द्वारा प्राप्त स्थिति है। उपाय चार प्रकार के कहे गये हैं अनुपाय, शाम्भवोपाय, शाक्तोपाय तथा आणवोपाय। इन्हें क्रमशः आनन्दोपाय, इच्छोपाय, ज्ञानोपाय तथा क्रियोपाय की संज्ञा से भी अभिहित किया जा सकता है।

अनुपाय में प्रयुक्त 'अन' उपसर्ग का अर्थ है साधक के द्वारा किया गया अत्यन्त अल्प प्रयत्न। अनुपाय को शुद्ध रूप में उपाय कहना कठिन है क्योंकि यह तो पूर्णतः अनुग्रह पर आधारित है। अनुपाय का भाव है तीव्रतम शक्तिपात द्वारा स्वस्वरूप का ज्ञान। इसे प्रत्यभिज्ञा उपाय भी कहा गया है। शाम्भवोपाय वह उपाय है जिसमें परमसत् रूप परमशिव का ज्ञान इच्छाशक्ति के द्वारा प्राप्त होता है। जब, यह सारा प्रपंच मुझसे ही उदित होकर मुझमें प्रतिबिम्बित हैं और मुझसे अभिन्न है यह अनुभूति होती है तब वह शाम्भवोपाय कहलाता है। शाक्तोपाय में शक्ति के चमत्कार रूप अनवरत प्रयत्नों के फलस्वरूप ऐक्य रूप निर्विकल्पक ज्ञान की प्राप्ति होने लगती है। विकल्परूप ज्ञान की प्रधानता के कारण इसे ज्ञानोपाय भी कहते हैं। आणवोपाय वह मार्ग है जिसमें आत्मसाक्षात्कार हेतु बाह्य विकल्पों

अर्थात् मन्त्र, उच्चारण, ध्यान, वर्णादि की सहायता लेनी पड़ती है। यह मानसक्रियाओं से साध्य है अतः इसे क्रियोपाय भी कहते हैं। यह भेदप्रधान है।

यहां यह शंका होती है कि क्या उपायों में भेद होने से मोक्ष में भी भेद होता है ? तब घटध्वंस का उदाहरण देते हुये अभिनवगुप्त कहते हैं कि घटनिर्माण में हेतुभेद होता है पर घटध्वंस में आकृति लुप्त होने पर फलभेद नहीं रहता है। अतः इच्छा, ज्ञान, क्रियात्मक उपायों में भेद होने पर भी उपेय रूप मोक्ष में भेद नहीं होता है। मालिनीविजयोत्तरतंत्र में विविध समावेशों का उल्लेख है इसी को आधार बनाकर अभिनवगुप्त तंत्रालोक में कहते हैं कि बिना किसी चिन्तन के मात्र गुरु के प्रतिबोध से जो आवेश उत्पन्न होता है वह शाम्भव उपाय से प्राप्त स्थिति अर्थात् शाम्भव समावेश कहलाता है। उच्चार रहित रूप से वस्तु का मनन चिन्तन करके शाक्त समावेश की प्राप्ति होती है तथा उच्चार, करण, मंत्र, ध्यानादि बाह्य विकल्पों से आणव समावेश की प्राप्ति होती है। इन तीनों समावेशों के मध्य भी उपायोपेय भाव है। आणव द्वारा शाक्त, शाक्त द्वारा शाम्भव तथा शांभव द्वारा अनुपाय समावेश प्राप्त होता है अतः सिद्धि और मुक्ति इन दोनों का ही उत्सव ये चार प्रकार के ज्ञान है।

अंत में कह सकते हैं कि अज्ञान का अर्थ है ईषद् ज्ञान और अज्ञान का नाश है अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान। यथार्थ स्वरूप का यह ज्ञान ही मोक्ष है। मोक्ष प्राप्ति हेतु अज्ञान की पूर्णतया निवृत्ति तथा ज्ञान प्राप्ति अनिवार्य है और इसके लिये परमेश्वर का अनुग्रह, गुरु, दीक्षा तथा साधककृत उपाय आवश्यक है।



शैवदर्शन के वातायन से

प्र० नीलकंठ गुरु

अवच्छेद—विश्वमय स्तर पर किसी भी प्रकार की ज्ञातृता के निर्बाध प्रसार में जो देश, काल एवं आकार की अनगिणत आकाङ्क्षाओं के अवरोध अर्थात् सङ्कोच अथवा इयत्तायें पग-पग पर अड़चनें उत्पन्न करते रहते हैं उनको शास्त्रीय शब्दों में अवच्छेद कहते हैं। उन अवच्छेदों के सूचीभेद्य अन्धतमस् से भरे हुए पशुहृदयों में वास्तविक स्वरूप ज्ञान की ज्योतिर्मयता का पूर्णविकास होना तब तक असंभव होता है जब तक साक्षात् परमपुरुष की कृपा न हो।

श्रीकण्ठ—भगवान् शिव के उस रूपान्तर का नाम है जिसमें वे प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में उन सारे जड-चेतन पदार्थों की नए सिरे से सृष्टि करते हैं जिनका पिछले कल्पान्त की वेला पर संहार हुआ होता है।

आबिल—यह एक विशेषणपद है। ऐसे किसी पदार्थ को, जो कि असल में स्वभावतः पारदर्शी होता हुआ भी, अपने ऊपर आगन्तुक मलों की कालिख के परतों को स्वीकारने से इतना मलिन बना हुआ हो, कि उसका असली स्वरूप ही पूर्णतया तिरोहित हुआ हो, आबिल या आबिल कहते हैं।

ज्ञेयतत्त्व—इस शब्द में दो भाग हैं : 'ज्ञेय और तत्त्व'। 'ज्ञेय' से सर्वसाधारण ज्ञान का विषय बनने वाले हरेक नीलरूप या सुखरूप पदार्थ का अभिप्राय है, और 'तत्त्व' से सारे ज्ञेय पदार्थों का सदासर्वदा स्वरूप में निहित या गर्भित रखने वाली उस चित्-प्रकाशमयता का अभिप्राय ध्वनित होता है जिससे हरेक जडचेतन पदार्थ को अपने-अपने रूप में स्थिति प्राप्त होती है। चित्-प्रकाशमयता से परमशिवमय प्रकाश का ही अभिप्राय है जो हरेक जड-चेतन पदार्थ में गर्भित रहने वाला परमार्थ-सद्भाव है अतः वही शिवमय प्रकाश 'ज्ञेयतत्त्व' या ज्ञेय सतत्त्व कहलाता है—'ज्ञेयस्य हि परं तत्त्वं यः प्रकाशात्मकः शिवः'।

अपह्नव—चेतन प्रमाता के द्वारा किसी प्रकार के भी प्रमेय पदार्थ के स्वरूप या स्वभाव को पूर्णतया या अंशतः झुठलाने की क्रियाशीलता को अपह्नव कहते हैं। अपह्नव को दूसरे शब्दों में 'अपलाप' भी कहते हैं। इस प्रसंग में इस तथ्य की अवश्य ध्यान में रखने की आवश्यकता है कि संसार के सारे पदार्थ किसी न किसी रूप में अपह्नव का विषय बन सकते हैं परन्तु केवल ईश्वरीय चित्प्रकाश स्वयंसिद्ध, सर्वव्यापी एवं नित्य सद्भाव होने के

कारण कभी भी अपलाप का विषय नहीं बन सकता है।

वित्—कालातीत, स्वयंसिद्ध एवं असीम ईश्वरीय बोध को 'वित्' कहते हैं।

साकूत—ऐसे वचन को साकूत कहते हैं जिसमें कोई विशेष अभिप्राय व्यंग्य रूप में निहित रखा गया हो।

घटयन्त्र—किसी जलाशय या कूप से पानी निकालने के लिए लगाए हुए अरघट्ट (रंहट) को घट यन्त्र कहते हैं।

शक्ति—किसी भी जडरूप या चेतनरूप पदार्थ में, अभिन्न रूप में, सदा गर्भित (पुष्प में गंध की तरह) रहने वाली उसकी अपनी आत्मभूत सारवत्ता को शक्ति अर्थात् सकत कहते हैं। शक्तिमान पदार्थ और शक्ति दो भिन्न-भिन्न पदार्थ नहीं हैं, अपितु, बिल्कुल एक ही पदार्थ है। 'शक्ति' और 'शक्तिमान' ऐसा पार्थक्य तो केवल प्रमाताओं की कल्पना की उपज है क्योंकि शक्ति से शक्तिमान को अथवा शक्तिमान से शक्ति को अलगाने की दशा में, (यदि वैसी कोई दशा होती) दोनों का सद्भाव ही ठहर नहीं सकता। आग से ऊष्मा को अलगाने की अवस्था में न तो अग्नि ही रह सकता और न उसकी शक्तिभूता ऊष्मा ही। अतः दोनों में वस्तुतः कोई भी अलगाव नहीं है। शिव एवं शिवता यह भी कोई द्वैत नहीं है क्योंकि शिव के बिना शिवता या शिवता के बिना शिव की कल्पना करने की दशा में दोनों का निजी अस्तित्व ही नहीं होता अतः विश्व भी शून्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता।

अलुप्तविभव—ऐसे महाशिव के अर्थ को द्योतित कर रहा है जिसकी ईश्वरीय विभूति अर्थात् स्वातन्त्र्य शक्ति का लोप कदापि नहीं होता है।

अक्षर—'क्षर' शब्द से ऐसे किसी पदार्थ का अभिप्राय लिया जाता है जो क्षर अर्थात् नश्वर हो। संसार के सारे स्थूल, भाव 'क्षर' हैं। क्षर का न होना 'अ+क्षर' कहलाता है। तात्पर्य यह कि ऐसा कोई सद्भाव जिसका किसी भी अवस्था में या कभी भी नाश न होता हो 'अक्षर' कहलाता है। स्वयं अविनश्वर एवं असीम परब्रह्म ही मात्र अक्षर है। समूचे वर्ण समाम्नाय में केवल 'अ' परब्रह्म का प्रतीक है अर्थात् कभी भी क्षरत्व का विषय न बन सकने वाला 'अक्षर' है।

विसर्ग—सारे जड एवं चेतन पदार्थों को आन्तरिक संवित्-रूपता से अलग कर बाहरी विश्वमय स्थूल रूप में आभासित करने की ईश्वरीय क्रियात्मकता को विसर्ग कहते हैं।



शैवाचार्य श्री नागार्जुन रचित चित् सन्तोष त्रिंशिका

वी. एन. जोत्शी (भट्ट)

आचार्य नागार्जुन के विषय में हाल ही में ज्ञातव्य बातें प्रकाश में आईं जिनके आधार पर यह कहा जाता है कि कांगड़ा स्थित प्रसिद्ध ज्वालामुखी मन्दिर के आस-पास सिद्ध नागार्जुन के नाम से एक पवित्र पूजा स्थल है अतः वही इनका निवास-स्थान भी रहा होगा। कांगड़ा शैव-शाक्त शिक्षा का प्रमुख केन्द्र रहा है और जालन्धर पीठ के नाम से शाक्त सम्प्रदाय के चार पीठों में से एक पीठ गिना जाता है। दसवीं शताब्दी में कश्मीर शैव दर्शन वेकुल और त्रिक सम्प्रदाय के महान् आचार्य श्री शम्भुनाथ इसी जालन्धर पीठ पर विराजमान रहे। यही श्री शम्भुनाथ आचार्य अभिनव गुप्त के भी गुरु रहे हैं। इन्हीं शम्भुनाथ की शिष्य परम्परा में श्री नागार्जुन भी रहे हैं। शैवाचार्यों की परम्परा में इनका नाम उल्लेखनीय है। “सिद्ध नागार्जुन” नामक पवित्र पूजा-स्थल इस बात का साक्षी है कि आचार्य शैव योगी थे और इसमें महान् सफलता को इन्होंने प्राप्त किया था। इनका जन्म तेरहवीं शताब्दी में हुआ था।

इनकी रचनाओं के विषय में कहा जाता है कि इन्होंने परमार्चन त्रिंशिका और चित् संतोष त्रिंशिका नामक दो स्तुतियां रची हैं, जिनमें तीस-तीस श्लोक मिलते हैं। ये दोनों रचनायें त्रिक सिद्धान्त के आधार पर लिखी गई हैं और कवि के पाण्डित्य और अनुभव की गहराइयों पर पूरा प्रकाश डालती हैं।

चित् संतोष त्रिंशिका स्तुति का तात्पर्य संक्षेप में इतना है कि जो परमार्थ ज्ञानी आत्म भाव का परित्याग किए बिना विषयों पर अनुग्रह करते हैं वे ही जीवन्मुक्त होते हैं। इसी भाव को प्रस्तुतस्तुति में उजागर किया गया है :-

लोकोत्तरानुभव सस्मित धूणमान
स्वानन्द सुन्दर विनिर्मल निर्निमेषा
यत्स्फारतः पशुरपीश्वरतां प्रयाति
सा कापि दृग्विजयते गुरुपुङ्गवानाम् ॥ १ ॥

अर्थ: - अलौकिक अनुभव स्वरूप हंसती हुई मदमस्त स्वात्म आनन्द से सुन्दर निर्मल निमीलन रहित वह कोई विशेष श्रेष्ठ गुरुओं की दृष्टि जो है उसको बार-बार जय-जयकार अर्थात् नमन करता हूँ जिसके स्फार (विकास) से पशु अर्थात् मूर्ख भी ईश्वर भाव को प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

दिष्टया भवानल शिखा शत-ताप तप्तं

जन्माटवीषु विषमासु कदर्थितं यत्।

चेतस्तदेतदधुनामलचित्सुधाब्धि-

मध्ये निमग्नमसमां भजते प्रशान्तिम् ॥ २ ॥

अर्थ :- यह अनुग्रह दृष्टि ही है, कि जो यह मेरा मन जन्म रूपी कठिन घने वन में संसार रूपी अग्नि के सैकड़ों शोलों के प्रचण्ड ताप से संतप्त होकर पीड़ित हो रहा था, वही अब निर्मल चित्त के अमृत सागर में गोता खाकर अपार शान्ति का अनुभव कर रहा है ॥ २ ॥

व्यामूढमग्धमिव संशय दोषदुष्टं

चेतोयदेतदभवद्भवदुःखपात्रम्।

जातं तदद्य गुरुपादसरोजसेवा

संजात निर्मल विबोध महाप्रकाशम् ॥ ३ ॥

अर्थ :- जो यह मेरा मन मूर्ख, अन्धा, संशय रूपी दोषों से दूषित होकर संसार के दुखों का पात्र बना हुआ था वही अब श्रीगुरु के चरण कमलों की सेवा से उत्पन्न हुआ निर्मल ज्ञान महाप्रकाश बन रहा है ॥ ३ ॥

संकोचमाश्रितवतो निबिडं विमोहात्

यस्याभवद्भयमिहेन्द्रिय पन्नगेभ्यः।

चेतस्तदाप्य विमलोर्जित संविदाज्ञां

निशंकमद्य रमते विषयाटवीषु ॥ ४ ॥

अर्थ :- जिस मन को संकोच ग्रहण करने से अत्यन्त मोह अथवा अनभिज्ञता के घेरे से इन्द्रिय रूपी सांपों से भय लगता था वही मन अब निर्मल और उत्तम संवित् भगवती की आज्ञा के अनुसार विषय रूपी जंगलों में बेरोकटोक रमन करता है ॥ ४ ॥

कन्दर्प बाण विषमं हरिणेक्षणाभिः

पीतं हतं कवलितं मुषितं यदासीत्।

तत्पात्रतामुपगतं परमोक्षलक्ष्मी-

प्रेमामृताप्लुत कटाक्षपरं पराणाम् ॥ ५ ॥

अर्थ :- उत्तमांगनाओं के प्रेमामृत से सरोबार बने कटाक्षों से बींधे गये मृगनयनियों से बेहोश तथा, ग्रास बने बारबार दृष्टिगोचर बनकर मोहित तथा कामदेव के बाणों से कठोर बना जो यह मेरा मन था वही अब परम उत्कृष्ट मोक्ष लक्ष्मी के पात्र भाव को (संवित् देवी

की कृपा से) प्राप्त हुआ है ॥ ५॥

क्लिष्टं यदेतदभजत् जप कष्ट होम-

प्राणप्रवाह विनिरोध कदर्थनाभिः।

चेतस्तदद्य परमाद्वयसामरस्य ।

संजातसंमद रसासवमत्तमास्ते ॥ ६॥

अर्थ :- यह जो (मेरा मन) जप करने, असाध्य होम आचरण और प्राण वायु निरोध जैसी पीड़ाओं से दुःखित बना हुआ था (वही मन) आज परम अद्वैत सामरस्य से पैदा हुए नशीले शराब से मस्त हो रहा है ॥ ६॥

यो भेद तीव्र शिशिर प्रसरोपघात

भीतो मनो मधुकरो हतशक्तिरासीत्।

आसाद्यसोऽद्य शिवधाममधुंसदाऽस्ते

संवल्लता कुसम सौरभपानमत्तः॥ ७॥

अर्थ :- जो मन रूपी भौंरा तेज भेद रूपी जमने वाली सर्दी के ठंडे झोंकों से डरा हुआ और शक्तिहीन बना हुआ था वही आज संवित् रूपी लता के फूलों की सुरभि पान से मस्त बना हुआ शिवधाम रूपी मधुकाल (वसन्त) का उपभोग कर रहा है ॥ ७॥

त्यक्त स्वतन्त्र निजरूप महा प्रभाव

यत्कर्म बिन्दु धरणीषु विलीनमासीत्।

स्वच्छ प्रभा प्रसर पूरित सर्व लोकं

चेतश्चिदम्बर पदेन तदद्यमाति ॥ ८॥

अर्थ :- अपने स्वतन्त्र स्वरूप के महिमा के प्रभाव को त्याग कर जो मन कर्म रूपी बिन्दु धरती के बिलों में छुपा रखता था वही मन अब निर्मल दीप्ति के प्रसर से सारे जगत को पूर्ण करके चिदाकाश पद से सारे ब्रह्माण्ड को माप रहा है ॥ ८॥

यत्नेन वाञ्छितमनल्प विकल्प जाल-

विघ्नैस्तिरस्कृतमवापन यत्-प्रवेशम्

दुर्भेद्य भिन्न विषमार्गल भिन्न मार्ग

चेतस्तदद्यरमते शिव मन्दिरान्तः ॥ ९॥

अर्थ :- यत्न करके चाहने पर भी जो मन अनगिनत विकल्प जाल रूपी विघ्नों से पीछे हटा हुआ अपने शिव मन्दिर में प्रवेश नहीं कर सका वही मन आज कठिनता से तोड़े जाने वाले भिन्न-भिन्न मार्गों के कठोर अर्गलों (रूकावटों) को तोड़कर शिव मन्दिर में (स्वतन्त्रता)

से रमन करता है ॥ ९ ॥

योग व्रतादि नियमैरुपसेवितापि
नावाप दर्शन पथं किल यस्य जातु
संवित्प्रिया सुभगमूर्जित भाग्य सम्पत्
चेतस्तदद्य न जहाति मुहूर्तमेकम् ॥ १० ॥

अर्थ :- योग और व्रत इत्यादि नियमों के द्वारा जिस मन ने उपासना करने पर भी संवित्-प्रिया का दर्शन कभी नहीं कर पाया वही मन आज अति सुन्दर, उत्कृष्ट सम्पदामयी भाग्यशाली संवित् भगवती को एक क्षण के लिए भी अपने से अलग नहीं छोड़ता है ॥ १० ॥

क्रमशः



from Russia Anatoli Ivanovich Osipov.
The Soul Movement of the World.

editor

Malini

Delhi

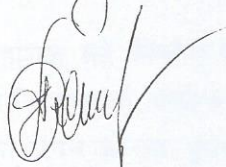
I was very much impressed by
your Malini. Please publish this (letter)
message in your journal for the
Budhugt Massis.

Thank You.

Yours

24.09.1999.

A. Osipov



*From Moscow
September 1999*

*Council
of Spiritual Unity
of All People of the World*

THE CONCEPTION OF HOLDING A MARCH OF PEACE AND UNITY IN LOVE

Dear Brothers and Sisters of the Planet Earth,

Global changes are now coming about throughout the world. The period of violence is drawing to a close and we are entering a New Epoch during which the idea of Love must be translated into reality. Mankind ought to look on itself as a Single Organism where individual nations are part of an Integrated Whole.

In this New Epoch people will rid themselves of their delusions and attain a qualitatively new level of realisation of themselves, animate nature and outer space.

Very soon most of the people will experience spiritual awakening. Powerful cosmic streams are heading for the Earth; they are bringing with them great energies of purification. These streams give rise to storms, floods, earthquakes and climatic changes. Now is the time for constructive changes in social and political life, changes towards the most democratic reforms and the building of a society of people's self-government and social justice.

The peoples that will realise these changes and make efforts to meet the demands of the New Epoch will secure a worthy future for themselves.

Nothing but Love and good relations between people will change the World for the better, as there is no other way to settle our differences. Cognition of God's Love as the Creative Force and affirmation of it as a norm of life will show Humankind a New Road of development and resolve all problems—personal, social and national.

The world today needs every voice to put it on the altar of Peace and Accord and ensure a worthy, highly moral life across the globe. It is only moral power that paves the way for evolution. This power stems from mutual love and cooperation, from renunciation of any forms of confrontation, from a striving after the best and from knowledge of the global laws giving a true world outlook.

We must work every day, every second so as not to give way to negative which are followed by our deeds. We should seek to expand our horizons and bring ourselves into accord with the world around us and with the whole of the universe, for everything around us has Life. We ought to make conscious efforts to build a Cathedral in our souls, something that is done in concert with the divine world. Light, Harmony and Love are the constituent and creative forces of our day-to-day work.

It is through this work that we shall pass from the time of violence and confrontation to the time of mutual trust, love and cooperation. And we must lose no time in preparing ourselves for the coming high energies. This is what has generated the idea of holding a March of Peace and Unity in Love. The gist of the Earth and Humankind. Today it is of the utmost importance to keep body and soul clean so as to survive and undergo further evolutionary change.

What is needed at the present time are large-scale, planetary concerted actions to intensify the positive processes taking place on the Earth and direct them at the evolutionary development of humanity.

We, people living on the same planet, are closely bound with one another and interdependent. Wars, terrorism, violence and drug addiction poison our lives wherever we might be.

We must not display, circulate or propagandise evil and violence. We propose that all production permeated with evil and violence and aimed at destroying the Biosphere of the Earth and the morals and psyche of human beings be outlawed. Moreover, all this production must be done away with, just as weapons of mass annihilation, as nuclear, chemical, bacteriological and psychotron weaponry.

Our planet is a living organism with a high degree of consciousness. Scientists measure the respiration rate of the Earth, and links between the Earth and other planets have been discovered. But because of the limited scope of mass consciousness we ruin the planet, polluting it with waste products of human activity and failing to realise how limited the planet's capability for self-purification is. All people living on earth must be awake to this fact and must make a contribution, entirely their own to the purification of the Earth so that it may acquire its primordial beauty and harmony.

The March of Peace and Unity in Love is designed to focus attention on planet purification. We must clean our cities, townships, villages and water basins of waste; we must build highly efficient facilities for processing household and industrial waste.

Joint action by uncoordinated forces will signify implementation of the principle of Unity in diversity. It is on this principle of voluntary cooperation that our relations will be based, just as relations between various peoples and social systems within the world community.



LIST OF BOOKS / PUBLICATIONS

1. Kashmir Shaivism-Secret Supreme by Swami Lakshman Joo (English)	120
2. Triksashtra-Rahasya-Prakriya by Swami Lakshman Joo (Hindi)	140
3. Sri Bhagavad Geeta with Abhinavagupta's Sanskrit commentary and Hindi translation by Swami Lakshman Joo & Smt. Prabha Devi.	100
4. Tantralok with Hindi translation by Swami Lakshman Joo	20
5. Bhagvadgita with Sanskrit commentary by Abhinavagupta and notes etc by Swami Lakshman Joo Maharaj	75
6. Vatulanatha Sutra with English translation by Swami Lakshman Joo	20
7. Kundalini Vigyan Rahasyam by Swami Lakshman Joo (English)	20
8. Swami Lakshman Joo ki Jeevani by Smt. Prabha Devi	5
9. Bhavarchan by Smt. Prabha Devi	51
10. Sharika Bodh by Sacchidanand	25
11. Sarika Charcha-Rameshwar Jha; with Hindi translation by Prof. M.L. Kukiloo.	25
12. Shraddharchan	150
13. Sandhyopasana Vidhi by Swami Lakshman Joo	20
14. Amriteshwar Bhairav Puja edited by Swami Lakshman Joo	free
15. Sri Amriteshwar Bhairav Stuti with Hindi translation by Prof. M.L. Kukiloo.	10
16. Parapraveshika with Hindi translation by Prof. N.K. Gurtoo & by M.L. Kukiloo.	20
17. Astottar Satanamavali of Sri Gurudev by Prof. M.L. Kukiloo.	5
18. Kashmiri Shaivadarshan – Yam/Niyam, by Swami Lakshman Joo with Hindi Translation by Prof. M.L. Kukiloo.	20
19. Maans Khana Pap Hai (Lecture in English/Hindi translation) by Prof. M.L. Kukiloo	5
20. Sharika Ashtottar Shat Namavali by Prof. M.L. Kukiloo.	10
21. Shri Gurustuti. (New revised edition) in Sanskrit	35
22. Sahaj Vichar Part I (A Collection of Kashmiri Poems) by Pt. Dina Nath Ganjoo.	10
23. Sahaj Vichar Part II (containing Kashmiri trans. of Shiv Sutra etc.) by Sh. D.N. Ganjoo.	35
24. Sahaj Vichar Part III English translation of Shivastotravali by Sh. D.N. Ganjoo	150
25. An Introduction of Kashmir Shaivism by Sh. D.N. Ganjoo	30
26. Amarnath yatra (Kashmiri) edited by Smt. Prabha Devi	10
27. Pajar Pajraw (Kashmiri) By Sh. J. N. Koul Kamal	10
28. Samb Panchashika with Hindi translation by swami Lakshman Joo	25
29. Awakening of Supreme Consciousness (English) (A collection of Swami Lakshman Joo's lectures edited by Sh. J.N. Koul Kamal	75
30. Shivastotravali with Hindi translation by Swami Lakshman Joo (revised edition)	150
31. Atam Jan (Kashmiri) by Smt. Raj Dulari Kadalbujoo	25
32. "Malini" a set of 18 issues	350
33. Bhawani Sahasranam (Published by Ram Krishan Ashram, Srinagar) with English commentary by Sh. J.N. Kaul Kamal	75
34. Practice and Displine of Kashmir Shaivism (English) by Swami Lakshman Joo (new edition)	35
35. Pancastavi with Hindi translation by Swami Lakshman Joo	50